प्रेमा पुस्तक-माला का तृतीय ग्रन्थ

प्रदीप

(प्राचीन तथा अर्वाचीन कविता का आलोचनात्मक ग्रन्थ)

लेखक
'विश्व-साहित्य', 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श,'
'पंच-पात्र' इत्यादि के रचयिता
तथा
'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०

प्रकाशक
प्रेमा पुस्तक-माला
इंडियन प्रेस लि०
जबलपुर।

प्रथम संस्करण 2000 | १९३२ दिसम्बर | मूल्य २)

सूची

उपहार

....

....

....

प्राक्कथन

[१]

हिन्दी हिन्दू-जाति की भाषा है। वह एक प्रदेश की नहीं, समस्त देश की भाषा है। यह बात उसके नाम से ही-हिन्दी शब्द से ही-सूचित होती है। हिन्दी का अर्थ है हिन्दू-जाति की भाषा। सच्ची बात यह है कि हिन्दी उस प्रदेश की भाषा है जो प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय-सभ्यता का प्रधान केन्द्र-स्थान रहा है। हिन्दू-जाति के प्रायः सभी प्रसिद्ध तीर्थ स्थान इसी प्रदेश में हैं। सभी प्रान्तों के निवासी और सभी धर्मों के अनुयायी यहां आते जाते रहते हैं। यही कारण है कि हिन्दी-भाषा से भारत के प्रायः सभी लोग अभिज्ञ रहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा इसका क्षेत्र भी विशेष विस्तृत है। गंडक से लेकर पंजाब तक और कमायूं से लेकर विन्ध्याचल के दूसरे भाग तक यही भाषा प्रचलित है। इसी से भारतीय-भाषाओं में समस्त देश की, हिन्दुस्थान की भाषा यही कही जा सकती है।

प्राचीनकाल में आर्यों की भाषा थी वैदिक-भाषा। सर्व-साधारण में बोल चाल के लिए जो भाषा व्यवहृत होती थी उसी को हम प्राकृत कहते हैं। आजकल जो भाषा संस्कृत कही जाती है वह वैदिक-काल की प्राकृत भाषा का ही परिमार्जित रूप है। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी। वह 'देव-वाणी' थी। साहित्य में उसका रूप स्थिर हो गया, परन्तु सर्व-साधारण में जो भाषा प्रचलित थी उसका विकास होता गया। उसीसे अन्य प्राकृत-भाषायें उत्पन्न हुईं। इन प्राकृति-भाषाओं में मुख्य हैं महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी। भगवान् बुद्ध और महावीर स्वामी ने इन्हीं प्राकृत-भाषाओं में लोगों को उपदेश दिये थे। बौद्ध-युग में पाली अर्थात् मागधी की विशेष वृद्धि हुई। जैनों के धार्मिक ग्रन्थ अर्ध-मागधी में लिखे गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन भाषाओं ने भी साहित्य में स्थायी रूप धारण कर लिया। इन्हीं प्राकृतों से स्वाभाविक नियमानुसार अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ। शौरसेनी और अर्ध-मागधी की अपभ्रंश भाषाओं से हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति हुई है।

हिन्दी का प्राचीनतम ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। विद्वानों की राय है कि उन दिनों साहित्य में, काव्यों में, पछाहीं भाषा का प्रयोग किया जाता था। बात यह थी कि उन दिनों भारत में राजपूत नरेशों का ही प्राबल्य था। राजपूतों की बड़ी बड़ी राजधानियां राजपूताना, गुजरात, मालवा, दिल्ली आदि में थीं। उन्हीं राजाओं के आश्रय में रहकर कवियों ने काव्य-ग्रन्थ लिखे। अतएव उनकी भाषा पछाहीं होनी ही चाहिए। फल यह हुआ कि यही भाषा काव्य की सामान्य भाषा हो गई और समस्त भारत में उसका प्रचार हो गया। उसमें केवल बोल-चाल के ही शब्द न थे। उसमें कृत्रिम प्राकृत-भाषा के कितने ही पुराने शब्द प्रयुक्त होते थे। राजपूत चारणों में हमीरदेव के समय तक इसी प्राकृत-मिश्रित-भाषा का प्रचार बना रहा। पर हिन्दी में चन्द

के बाद प्राकृत भाषा के शब्द निकलने लगे और उनके स्थान में संस्कृत शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा। तो भी परम्परागत कितने ही प्राकृत शब्द प्रयुक्त होते ही रहे। इसी समय मुसलमानों का आगमन हुआ। दिल्ली राजधानी हुई। आजकल जो खड़ी बोली के नाम से प्रसिद्ध है वह मेरठ और उसके आसपास के प्रदेश में बोली जाती है। मुसलमानों ने उसी को ग्रहण कर लिया और अरबी और फ़ारसी भाषाओं के प्रभाव से उस भाषा ने एक स्थिर रूप धारण कर लिया। उसी का नाम उर्दू है। मुसलमानों के कारण वह प्रादेशिक भाषा न रहकर देश-व्यापक भाषा हो गई। खुसरो की कविताओं में जो ब्रजभाषा का मेल है उसका कारण परम्परागत काव्य-भाषा का प्रभाव है। ब्रजभूमि के कवियों ने ब्रजभाषा का महत्व बढ़ाया। कुछ अपनी स्वाभाविक मधुरता के कारण और कुछ वैष्णव-धर्म के प्रभाव के कारण ब्रजभाषा हिन्दी में काव्य की सामान्य भाषा हो गई। कबीरदास की रचनाओं में ब्रजभाषा और खड़ी बोली का मेल है। जायसी और तुलसीदास जी ने अवधी में काव्य लिखे। अवधी-भाषा की वृद्धि का मुख्य कारण है रामचरित मानस। रामचरित मानस की विशेष प्रचार-वृद्धि होने के कारण उसकी भाषा का प्रभाव हिन्दी-काव्य की सामान्य भाषा पर इतना अधिक पड़ा कि पिछले साहित्य की भाषा में लोग मनमाने शब्दों का व्यवहार करने लगे। तो भी कुछ कवि ऐसे हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं में विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। कुछ समय से हिन्दी में ब्रजभाषा का प्रभाव घटने लगा है। अब खड़ी बोली ही हिन्दी-काव्य की सामान्य भाषा हो रही है। खड़ी बोली की कविताओं की गौरव-वृद्धि की है बाबू मैथिलीशरण गुप्त और पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने। आजकल इन्हीं की रचनायें लोक-प्रिय हो रही हैं।

[२]

भाषा और साहित्य का पारस्परिक विच्छेद नहीं हो सकता;

वाणी और अर्थ सदैव संयुक्त ही रहेंगे। भाषा हमारे पूर्वजों की उपार्जित सम्पत्ति है। उसी के द्वारा हम अपने पूर्वजों के संग्रहीत ज्ञान का उपार्जन कर सकते हैं। अतएव हमें इस सम्पत्ति की रक्षा सदैव यत्नपूर्वक करनी चाहिए। परन्तु यह सम्पत्ति ऐसी नहीं है कि हम इसे कोष में सुरक्षित रख सकें। यदि हम अपनी भाषा की वृद्धि नहीं कर सकते तो उसकी रक्षा करना भी हमारे लिए असम्भव है।

संसार परिवर्तनशील है क्योंकि वह उन्नतिशील है। स्थिरता जड़त्व का सूचक है। जो जड़ नहीं, वे जङ्गम हैं; उनकी गति अवरुद्ध नहीं होती। मानव-जीवन का जो स्रोत अनादिकाल से बह रहा है वह उद्देश्य-हीन नहीं है। वह किसी एक लक्ष्य की ओर जा रहा है। अब तक असंख्य मनुष्य इस स्रोत में बहकर काल के अनन्त-गर्भ में लीन हो गये हैं, परन्तु वे इस स्रोत में अपना चिन्ह छोड़ गये है। उनके मत और विचार भारत के रूप में अभी तक वर्तमान हैं। अनन्त-काल से मनुष्य अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए चेष्टा करते आ रहे हैं। हमारी वर्तमान भाषा उसी का परिणाम है। मनुष्य के साथ भाषा की उत्पत्ति हुई है और उसी के साथ उसका विकास हुआ है। भाव से भाषा को अब हम पृथक् नहीं कर सकते। इसीलिए किसी भी भाषा की उत्पत्ति या विकास पर विचार करते समय हमें उन भावनाओं पर भी ध्यान देना होगा जिनके कारण उस भाषा का रूप स्थिर हुआ है।

भाषा में परिवर्तन अवश्यम्भावी है, क्योंकि उसका सम्बन्ध जीवित मनुष्य-समाज से है। सभी देशों और सभी कालों में भाषा में परिवर्तन होते रहते हैं। यह परिवर्तन किसी की इच्छा पर निर्भर नहीं है। आर्यों की जो प्राचीन वैदिक-भाषा शताब्दियों के परिवर्तन के बाद आधुनिक हिन्दी के रूप में परिणत हुई है वह किसी मण्डली अथवा परिषद के कारण नहीं। सच तो यह है कि जब

भाषा साहित्यिक हो जाती है, जब उस पर विद्वानों का एकाधिपत्य हो जाता है, तब उसमें परिवर्तन नहीं होते। परन्तु सर्व-साधारण से सम्पर्क न रखने के कारण ऐसी साहित्यिक-भाषाएँ मृत हो जाती हैं।

भाषा की उन्नति का सबसे बड़ा अवरोधक है उसकी पराधीनता। हिन्दी अभी तक पराधीनता के पाश से मुक्त नहीं हुई है। जैसे देश की समृद्धि के लिए स्वराज्य की आवश्यकता है वैसे ही साहित्य की उन्नति के लिए भाषा का भी स्वराज्य आवश्यक है। जब कोई जाति किसी देश को अपने दासत्व-बन्धन में कर लेती है तब वह उस देश के राजनैतिक-स्वत्वों का ही अपहरण नहीं करती किन्तु उस देश की भाषा का स्वराज्य भी छीन लेती है। तब विजेता की ही भाषा विजित देश की प्रधान भाषा हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि पराधीन जाति की भाषा पर अन्य विदेशी जातियों की भाषा का प्रभाव पड़ने से उसमें उसका विशेषत्व नहीं रह जाता। यदि वह विदेशी भावों को ग्रहण कर उन्हें अपना लेने की शक्ति रखती है तो वह जीवित भी रह सकती है, अन्यथा उसका रूप रह ही नहीं जायगा। विदेशी भाषा के प्रभाव से वह एक दूसरी ही भाषा बन जायगी।

भाषा राष्ट्रीयता का चिह्न है। हिन्दी-भाषा में हिन्दू-जाति की राष्ट्रीयता को स्थिर रख कर हमें उसके विशेषत्व को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहिए। हमें उसे इस योग्य बना देना चाहिए कि देश की समस्त भावनायें उससे व्यक्त हो सकें। उर्दू कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है। वह हिन्दी ही है। परन्तु मुसलमानों ने उसे अरब और फ़ारस की पोशाक पहना कर उसको एक स्वतन्त्र भाषा ही बना डाली है। अन्य भाषाओं और साहित्यों के पराधीनता-पाश से मुक्त होने के लिए प्रत्येक भाषा क्रमशः तीन अवस्थाओं का अतिक्रमण करती है।

पहली अवस्था में उसे किसी मृत-भाषा का प्रभाव दूर करना पड़ता है। दूसरी अवस्था में उसको विदेशी भाषाओं के संसर्गज दोषों को निर्मूल करना पड़ता है। तीसरी अवस्था में वह अपनी ही कृत्रिमता को दूर कर स्वाभाविक रूप ग्रहण करती है। यह बात सभी देशों में देखी जाती है। योरप में एक हजार वर्ष तक लैटिन भाषा ही साहित्य की भाषा थी। विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषय लैटिन भाषा में ही लिखे जाते थे। लैटिन भाषा का प्राधान्य आधुनिक युग के आरम्भ तक था। बेकन, स्पाइनोजा, न्यूटन आदि विद्वानों तक ने लैटिन भाषा में रचनायें की हैं। आधुनिक युग के विख्यात दार्शनिक वर्गसन ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ-काल और इच्छा-शक्ति—को लैटिन भाषा में ही लिखा है। यही हाल भारतवर्ष का भी हुआ। संस्कृत-भाषा बौद्ध-युग के आरम्भ काल में ही, ईसा के कोई ६०० वर्ष पहले से ही, जन-साधारण से पृथक् हो गई थी। परन्तु भारतवर्ष में ईसा की अठारहवीं शताब्दी तक विद्वानों ने उसी में श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की है। हिन्दी में केवल धार्मिक कवितायें ही लिखी गईं। मृत-भाषा का प्राधान्य घट जाने पर भी कारणवश किसी किसी को विदेशी भाषा का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ता है। मुसलमानों के शासन काल में फारसी का प्रभुत्व हिन्दी को स्वीकार करना पड़ा। अब अंगरेज़ों का प्रभुत्व होने पर अंगरेज़ी-भाषा ने ही शिक्षित समाज पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। अंगरेजी-भाषा के माया-जाल को तोड़ कर बङ्गाल के शिक्षित समाज ने अपने प्रान्त से एक नवीन साहित्य की सृष्टि की है। उसकी उत्तरोत्तर उन्नति भी हो रही है। परन्तु हिन्दी में साहित्य का निर्माण अभी तक अर्ध-शिक्षित लोगों के ही हाथों से हो रहा है। इसीसे उसमें मौलिकता, नवीनता, शक्ति का अभाव है। इसी से हिन्दी भाषा में विचित्र भावों को सरलता पूर्वक व्यक्त करने की शक्ति नहीं आई है। उसमें कृत्रिमता ही बढ़ रही है।

भाषा का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्जगत् से है। वह उसकी अन्तर्भावनाओं का बाह्य रूप है। ज्यों ज्यों उसकी अन्तर्भावनाओं में परिवर्तन होगा त्यों त्यों भाषा का स्वरूप भी परिवर्तित होगा। देश, काल, विदेशी जातियों का सम्मिश्रण, ये सब भाषा के परिवर्तन में सहायक हैं, परन्तु भाषा पर सब से अधिक स्थायी-प्रभाव धर्म का पड़ता है। पृथ्वी पर जब जब किसी नवीन धर्म का प्रचार हुआ है तब तब उस धर्म के साथ किसी भाषा-विशेष की उन्नति हुई है। बौद्ध-धर्म के साथ पाली का प्रचार हुआ। जैन-धर्म के साथ-अर्ध मागधी की वृद्धि हुई। हिन्दू-धर्म के साथ तो संस्कृत का दृढ़ सम्बन्ध है। मध्ययुग में पोप के अभ्युदय से रोम धर्म का भी केन्द्र स्थान हो गया। उसी के साथ लैटिन भाषा भी देव-भाषा हो गई। रोम के धर्म-राज्य के साथ साथ लैटिन भाषा का भी प्रभुत्व घटा। हिन्दी पर संस्कृत भाषा का जो आधिपत्य है उसका कारण हिन्दू-धर्म भी है। ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध हिन्दी में भी आन्दोलन हुए हैं। वैष्णव-धर्म के आचार्यों ने ज्ञान और कर्म के ऊपर भक्ति का प्राधान्य प्रतिष्ठित कर हिन्दी-भाषा को मानो स्वतन्त्रता दे दी थी। ज्ञान और कर्म की मीमांसा देव-वाणी में ही उपलब्ध हो सकती है, परन्तु भक्ति-मार्ग हिन्दी भाषा में भी सुलभ हो गया।

भाषा में परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं, परन्तु सिर्फ परिवर्तन-शीलता ही प्रकृति का नियम नहीं है। गति के साथ स्थिति भी प्रकृति का नियम है। जो नष्ट हो गया उसका पुनरुद्भव होना सम्भव नहीं और जो स्थिर हो गया उसका लोप भी नहीं होने का। भाषा में जो स्थिरता आती है उसका कारण मनुष्य का धार्मिक संसार है। धर्म भाषा पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। हिन्दी-भाषा में उन सभी भावनाओं का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है जो वैदिक-युग, बौद्ध-युग या पौराणिक-युग में काम कर रहीं थीं। वैदिक-युग की भाषा थी छान्दस् भाषा। उसका उद्देश था ऋषियों के हृदयोत्थित

भावों को, प्रकृति की अलक्षित शक्तियों को, प्रेरित करना। वैदिक-मन्त्रों की भाषा शक्ति-सञ्चारिणी है क्योंकि वह मनुष्य के अन्तर्निहित भाव को जाग्रत करने के लिए विकसित हुई है। उसमें प्राण का आवेश विद्यमान है। सभ्यता के युग में मनुष्य अपने कितने ही भावों को छिपाने की चेष्टा करता है। कृत्रिम आचार-व्यवहार की जटिलता के कारण वह अपनी भाषा में शब्दों का जाल रचता है। पर वैदिक-युग ज्ञान का उषःकाल था। तब वाणी अन्तःकरण की देवी थी। इसी से उसमें संज्ञाओं का रूप-वैचित्र्य है, क्रियाओं का नहीं। क्रियाओं पर संज्ञा-शब्दों का विशेष प्रभाव भी नहीं पड़ता। स्त्री और पुरुष में अधिकार-भेद होने के कारण हिन्दी में क्रियाओं में भी लिङ्ग-भेद हो गया। वैदिक-भाषा का लक्ष्य था शक्ति की प्राप्ति। अनेकत्व में एकत्व स्थापित करने की ओर ऋषियों ने सदैव चेष्टा की है। संज्ञा के साथ क्रियाओं के सम्बन्ध बतलाने वाले शब्द 'अव्यय' हैं। उन पर किसी का प्रभाव नहीं पड़ता है। पुरुष और प्रकृति के नित्य-सम्बन्ध के वे सूचक हैं। वैदिक-भाषा में कोमलता नहीं, गम्भीरता है; उसमें रस नहीं, शक्ति है। सरस भावों के लिए हमें बौद्ध-युग की ओर दृष्टि डालनी होगी। प्राकृत भाषाओं में गम्भीरता की अपेक्षा माधुर्य अधिक है। इन दोनों का सम्मिलन पौराणिक-युग में हुआ। अनार्य जातियों के समावेश से भारतीय-राष्ट्र अधिक व्यापक हो गया, अतएव उसकी भाषा में भी व्यापकता आनी चाहिए। पर फल हुआ अनेक भाषाओं की सृष्टि, यद्यपि उनका आदर्श प्राचीन ही रहा। जब मुसलमानों का आधिपत्य भारत पर हुआ तब उनकी भाषा ने भारतीय भाषा को एक दूसरे सांचे में ढाल दिया। ग्रामीणों ने तो अपनी भाषा के स्वरूप की कुछ रक्षा की पर नगरों में भाषा का नवीन रूप शीघ्र ही स्थिर हो गया। कई सभ्यताओं के मेल से हिन्दी ने यह रूप धारण किया है। अब उस पर पाश्चात्य-भाषाओं का भी प्रभाव, विशेष कर अंगरेजी भाषा का प्रभाव, पड़ने लगा है। वैसे तो जो

भाषायें हिन्दी के निर्माण में सहायक थीं उनका प्रभाव मिट नहीं सकता पर सबसे अधिक प्रभाव उस पर संस्कृत का ही रहेगा क्योंकि भारत की राष्ट्रीय-भावना का स्रोत उसी से उद्गत हुआ है। पण्डित सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने एक बार कहा था कि भारतवर्ष में जितनी भाषायें प्रचलित हैं उन सब का आदर्श संस्कृत भाषा ही होना चाहिए। जैन, बौद्ध तथा अन्य धर्मावलम्बियों ने जिन जिन भाषाओं में अपने साहित्य की रचना की है उनके साथ संस्कृत का अपरिहार्य सम्बन्ध है। यह सच है कि संस्कृत भारत की कभी प्रचलित भाषा, सर्व-साधारण की भाषा, नहीं थी। परन्तु भारतीय-सभ्यता और राष्ट्रीयता का समस्त भाव संस्कृत भाषा में ही विद्यमान है। अतएव सस्कृत के शब्दों का आधिक्य हिन्दी में सदैव बना रहेगा।

[३]

जो बात भाषा के लिये कही गई है वही साहित्य के लिए भी कही जा सकती है। हिन्दू-साहित्य का प्राचीनतम रूप वेदों में विद्यमान है। वैदिक-काल से लेकर आज तक हिन्दू-समाज के स्वरूप में परिवर्तन होते रहे। बाह्य और आभ्यन्तरिक आक्रमणों से हिन्दू-समाज की रक्षा के लिये स्मृतिकारों ने समय के अनुसार धर्म की व्यवस्था कर दी। अपनी स्मृतियों के द्वारा हिन्दू-धर्म ने सभी तरह के आघात-प्रत्याघात सहकर भी अपनी एक मर्यादा बनाली। यही कारण है कि हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्राचीन आर्यावर्त से आधुनिक हिन्दू-समाज का सम्बन्ध-सूत्र टूटा नहीं है। पर यह केवल स्मृतियों के धार्मिक-अनुशासनों का फल नहीं है। सच तो यह है कि स्मृतियों की धर्म-मर्यादा को जीवित रखा है हिन्दू-कवियों ने। उन्होंने अपने आदर्श चरित्रों में हिन्दू-धर्म को मूर्तिमान कर दिया और हिन्दू-समाज ने उन्हीं में अपने धर्म का प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया। उन्हें अपने कर्तव्य-पथ को निश्चित करने

के लिये किसी धर्म-शास्त्र को देखने की आवश्यकता नहीं थी। राम, सीता, लक्ष्मण, अर्जुन, युधिष्ठिर, कृष्ण, भीष्म, सावित्री, द्रौपदी, आदि के चरित्रों से ही वे अपना कर्तव्य समझ लेते थे। सभी हिन्दू-कवियों ने इन्हीं देव-तुल्य नायकों के उदात्त चरित्रों का वर्णन किया है। आधुनिक साहित्य ने अब अपना लक्ष्य अवश्य बदल दिया है। उसका कारण यह है कि अब समाज की अपेक्षा व्यक्तित्व के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता है। अब आदर्श-चरित्र की अपेक्षा चरित्र-वैचित्र्य की ओर कवियों की दृष्टि जाने लगी है। भारतवर्ष की परिस्थिति परिवर्तित हो गई है। पाश्चात्य-सभ्यता के प्रभाव से उसके समाज में नई समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। कितने ही धार्मिक-अनुशासन अब बन्धन प्रतीत होने लगे हैं। इसीसे अब धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हो रहे हैं। ये सब आधुनिक साहित्य में प्रतिबिम्बित होंगे और प्रतिभाशाली कवियों के द्वारा उन चरित्रों का निर्माण होगा जिनसे समाज की समस्यायें हल हो जायंगी। परन्तु ये चरित्र हिन्दू-समाज के अन्यतम आदर्श नहीं होंगे। हिन्दू-समाज में इनकी पूजा नहीं हो सकती। हिन्दू-समाज के उपास्य देव प्राचीन-साहित्य के ही चरित्र बने रहेंगे। हिन्दू के हृदय-मंदिर में राम और सीता की ही पूजा होती रहेगी और उन्हीं से हिन्दू-समाज जीवित रहेगा।

साहित्य के साथ समाज का यही सम्बन्ध है। दोनों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है। अतएव काव्यों की समालोचना में इसी सम्बन्ध पर ध्यान रखना चाहिए। कल्पना के विकास में, शक्ति के गति-सञ्चालन में, और मानवीय चेष्टा को उत्साहित करने में कविता ने वही काम किया है जो विज्ञान ने किया है। कविता केवल कल्पना-प्रसूत भावों की अभिव्यक्ति ही नहीं है। वह तत्कालीन समाज की शक्ति का उद्बोधक भी है। उसके दो रूप हैं—शक्ति और कला। कभी

साहित्य में शक्ति का प्राधान्य होता है और कभी कला का। जब देश में जाग्रति आती है तब शक्ति का प्राधान्य होता है और जब देश में समृद्धि फैल जाती है तब कला का प्राधान्य होता है। वाल्मीकि और व्यास शक्ति के प्रतिनिधि हैं और कालिदास कला के। हिन्दी में तुलसीदास और सूरदास कला के प्रतिनिधि हैं परन्तु उनमें कला के साथ शक्ति का भी सम्मिलन हुआ है। कविवर बिहारी की सतसई के एक समालोचक ने अपनी आलोचना में वाह वाह की धूम मचादी है। पर बिहारी की शक्ति-शून्यता पर उन्हों ने ध्यान नहीं दिया है। कविवर केशव, बिहारी, मतिराम, भूषण आदि राज-सभा के रत्न थे। उनकी प्रतिभा उसी में अवरुद्ध थी। उनकी कृति सर्वसाधारण की सम्पत्ति नहीं है। उनके कला-कौशल से हृदय में आनन्द-सम्मोह पैदा हो सकता है, पर शक्ति नहीं आसकती और न आत्मविश्वास की दृढ़ता आ सकती है। उनके भावों में तल्लीन होकर रसिक आत्म-विस्मृति कर सकते हैं पर उनमें जाग्रति नहीं आसकती है। (कुछ लोग भूषण को राष्ट्रीय-कवि मानते हैं। उनके भ्रम का एक मात्र कारण यह है कि भूषण ने राष्ट्रीय शक्ति के उद्बोधक शिवाजी और छत्रसाल के सम्बन्ध में कवित्तों की रचना की। शिवाजी और छत्रसाल स्वाधीनता के उपासक अवश्य थे। वे वीर थे। पर भूषण की कविताओं में एक भी ऐसा पद्य नहीं है जो राष्ट्रीय-भावों का उद्बोधक हो। भूषण ने अपने आश्रय-दाताओं की जैसी प्रशंसा की है वैसी प्रशंसा तो सभी कवियों ने अपने अपने आश्रय-दाताओं की की है। सच पूछो तो भिन्न भिन्न अलङ्कारों का उदाहरण देते समय जहां अन्य कवियों ने शृङ्गार-रस को धारा बहाई है वहाँ भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा या औरंगजेब की निन्दा की है और उनकी प्रशंसा और निन्दा दोनों में अनौचित्य है। हिन्दू-धर्म-विद्वेषी औरंगजेब की निन्दा से पूर्ण होने के ही कारण ये कवितायें राष्ट्रीय नहीं कही जा सकतीं।)

किसी भी साहित्यिक-ग्रन्थ की समीक्षा दो प्रकार से की जा सकती है—एक तो कला की दृष्टि से और दूसरे इतिहास की दृष्टि से। कला की दृष्टि से विचार करने पर कोई ग्रन्थ स्वयमेव पूर्ण ज्ञात होता है। कला की दृष्टि से हम ग्रन्थ के अंतर्गत मूलभाव को, वाह्य संसार पर दृष्टि-निक्षेप किये बिना ही, समझ सकते हैं। उस समय कवि की सृजन-शक्ति पर ही हमारा ध्यान रहता है। परन्तु ऐतिहासिक रीति से जब हम उस पर विचार करेंगे तब हम उस ग्रन्थ की मूलभावना में भी कार्य-कारण का सम्बन्ध देख सकेंगे। तब हमें कवि के व्यक्तित्व के साथ ही साथ तत्कालीन समाज की स्थिति पर भी विचार करना पड़ेगा, क्योंकि उसी स्थिति में रहकर कवि के व्यक्तित्व का विकास हुआ है।

प्रथम परिच्छेद ।

[१]

न्दी का प्राचीन काव्य-साहित्य बहुत महत्त्व-पूर्ण है। उसके इस महत्त्व का सबसे बड़ा कारण यह है कि जब हिन्दू-जाति राजनैतिक स्वत्वों से हीन होकर विदेशी विजेताओं से पद-दलित हो रही थी तब इसी साहित्य ने उसके सामाजिक जीवन को शृङ्खला-बद्ध रक्खा। मुसलमानों के शासन-काल में ही हिन्दी साहित्य की अच्छी श्री-वृद्धि हुई। उस समय व्यक्तिगत रूप से चाहे किसी हिन्दू ने इतिहास में महत्त्व-पूर्ण स्थान क्यों न पा लिया हो, परन्तु तत्कालीन इतिहास में हिन्दू जाति का अस्तित्व नहीं है। उस समय के

इतिहास में हम मुसलमानों के आक्रमण का हाल पढ़ते हैं, उनके वैभव और साम्राज्य-विस्तार की कथा जान लेते हैं और यत्र तत्र नानक, रामानन्द, कबीर, शिवाजी आदि हिन्दू-वीरों का भी परिचय पाते हैं। परन्तु हिन्दू-जाति स्वयं कहाँ थी, इसका कुछ पता नहीं लगता। जिस जाति में शिवाजी और चैतन्य उत्पन्न हो सकते थे वह जाति मृत नहीं हो सकती। परन्तु तत्कालीन हिन्दू-जाति की जीवन-धारा कहाँ बह रही थी, इसका उल्लेख भारतीय इतिहास में नहीं है, भारतीय साहित्य में है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य की पर्यालोचना करना आवश्यक है।

साहित्य में कार्य-कारण का नियम उतना ही व्यापक है जितना वाह्य जगत् में। संसार में जब कोई कार्य होता है तब उसका एक कारण भी होता है। साहित्य में भी सहसा किसी ग्रन्थ की सृष्टि नहीं हो जाती। कोई भी ग्रन्थ हो, उसके निर्माण में तत्कालीन समाज के धार्मिक विचार और संस्कार खूब काम करते हैं। कवि शून्यता से सामग्री नहीं प्राप्त कर सकता। उसके लिए एक विशेष स्थिति की आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि जब तक उसके लिये समाज प्रस्तुत नहीं है, तब तक उसकी सृष्टि ही नहीं होती। जो भावनाएँ कवि के काव्य के लिये उपजीव्य हैं वे समाज में पहले ही प्रचलित हो जाती हैं। यदि तुलसीदास के पहले भक्ति की भावना प्रबल नहीं होती तो राम चरित मानस की सृष्टि भी नहीं हो सकती थी। वह भक्ति-भावना भी किसी कारण का परिणाम है। वह कारण क्या है, यह जानने के लिये हमें तत्कालीन और उसके पूर्ववर्ती इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी। इस प्रकार मनुष्य के विचार-स्रोत पर ध्यान देने से हमें स्पष्ट रूप से यह मालूम हो जायगा कि

उसमें कितना सत्य है और इतिहास की घटनाओं से उसका क्या सम्बन्ध है। साहित्य से इतिहास स्पष्ट होता है और इतिहास से साहित्य। इसीलिये इतिहास की पर्यालोचना में साहित्य की समीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। योरोप में विद्वानों ने ऐसी समालोचना का प्रचार किया है। साहित्य की इस समीक्षा से गत सौ वर्षों में जर्मनी और फ्रांस के इतिहास का स्वरूप ही बदल गया। विद्वानों ने समझ लिया कि साहित्य केवल कल्पना का क्रीड़ा-स्थल नहीं है और न वह उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि-मात्र है। वह अपने काल के मानसिक विकास का चित्र है। अतएव साहित्य के प्रकाश से हम अतीत काल के मनुष्य का अन्तरतम गूढ़ रहस्य जान सकते हैं।

जब हमारे हाथ में कोई किताब आती है तब सबसे पहले हम यही कहते हैं कि इसकी रचना योंही नहीं हो गयी। जिस प्रकार पृथ्वी पर पद-चिन्ह देखकर हम यह कहते हैं कि यह एक प्राणी का चिन्ह है उसी प्रकार ग्रन्थ से यह कहा जाता है कि वह भी मनुष्य की अन्तरात्मा का चिन्ह है। चिन्ह से प्राणी का अनुमान किया जाता है और ग्रन्थ से मनुष्य के अन्तःकरण का आभास मिलता है। पद-चिन्ह का महत्त्व इसी लिये है कि उसके द्वारा हम प्राणी का पता लगा सकते हैं। उन चिन्हों का अनुसरण कर हम जान सकते हैं कि वह प्राणी कहाँ गया है। ग्रंथ का भी महत्त्व इसी में है कि हम उसके द्वारा आत्मा का अनुसन्धान कर सकते हैं। नदी का स्रोत सूख जाने पर भी किनारे पर शिला-खण्डों को देखकर हम कह सकते हैं कि कभी इधर जल की धारा बहती थी। सभ्यता का लोप हो जाने पर, किसी जाति का अस्तित्व

नष्ट हो जाने पर, उसके साहित्य से यह जाना जा सकता है कि उसकी जीवन धारा किधर बह रही थी। अस्तु।

साहित्य के विकास में तीन मुख्य कारण हैं; जातीय संस्कार, देश और काल। जातीय संस्कार वे हैं जो किसी विशेष जाति के सभी व्यक्तियों में पाये जाते है। अपने इन्हीं संस्कारों के कारण मनुष्य जाति से कोई जाति पृथक की जा सकती है। देश और काल के व्यवधान से भी ये संस्कार सर्वथा नष्ट नहीं हो जाते। एक आर्य जाति का ही उदाहरण लीजिये। आर्य जाति की अनेक शाखाएँ हो गई हैं। वे अब भिन्न भिन्न स्थानों में रहने लगी हैं। सैकड़ों वर्षों से वे एक दूसरों से पृथक हो गई हैं तो भी उनका मूल भाव नष्ट नहीं हुआ है। आर्य जाति की सभी शाखाओं में वह मूल भाव विद्यमान है जिसके कारण आज भी वे सभी अपने को आर्य जाति में सम्मिलित करा सकती हैं।

भारतवर्ष के साहित्य और कला में आध्यात्मिक भावों की जो प्रधानता है उसका कारण यह देश ही है। काल का प्रभाव दो रूपों में व्यक्त होता है। जाति भविष्य के लिये जो सामग्री छोड़ जाती है उसका उपयोग कर कालान्तर में उसकी सन्तान साहित्य की श्री-वृद्धि करती है। इसके साथ ही भिन्न भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्षण से जो उत्क्रान्ति उत्पन्न होती है उसका भी प्रभाव साहित्य पर चिरङ्कित हो जाता है। वर्तमान हिन्दी साहित्य पर प्राचीन आर्य जाति का प्रभाव स्पष्ट है। उसी प्रकार उस पर इस्लाम सभ्यता एवं आधुनिक योरोप का भी प्रभाव विद्यमान है। इन सब प्रभावों से जाति की जो उन्नति और अवगति होती है वह उसके साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। वाह्य जगत के साथ मनुष्यों का सम्पर्क होने से उनके हृदय में हर्ष और विस्मय, आधार और आतङ्क की जो भावनायें उद्भूत होती हैं वे उनमें विद्यमान हैं। भावों की विशदता और भाषा की शक्ति में वैदिक मन्त्रों के साथ संसार के किसी भी काव्य की तुलना नहीं होसकती। उनमें प्रकृति का आवरण दूर कर अन्तिम सत्य का रूप जानने की चेष्टा की गई है। हिन्दू की सृष्टि में वेद उसके सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन का अनन्त स्रोत हैं। इसमें संदेह नहीं कि वेदों ने ही हिन्दू-साहित्य और विज्ञान की गति निर्दिष्ट कर दी। वेदों के कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड से हिन्दू धर्म-शास्त्रों और वेदान्त-शास्त्रों की सृष्टि हुई।

शास्त्रों का कथन है कि जिन नियमों के द्वारा हमारे वाह्य और अन्तर जीवन का संङ्गठन होता है, उनका न आदि है और न अन्त। वे स्वतःप्रसूत हैं। अतएव उन्हें शिरोधार्य करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। सदाचार और कर्तव्य विधि में कोई भेद नहीं है। पवित्र जीवन उसी का समझा जाता है जो अपने समाज-निर्दिष्ट सभी कर्मों को करता है। यही कारण है कि आज तक हिन्दुओं में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का अधिक प्राबल्य है। वेदान्त शास्त्र की शिक्षा इसके बिलकुल विपरीत है। उसने सामाजिक जीवन की उपज्ञा करके प्रत्येक व्यक्ति के आत्मिक विकास पर जोर दिया है।

क्रमशः वैदिक साहित्य जन-साधारण की सम्पत्ति न होकर कुछ ही लोगों की सम्पत्ति होगयी। भारतवर्ष के सर्व साधारण के मानसिक विकास में रामायण और महाभारत ने खूब काम किया। उनका प्रभाव आज तक अक्षुण्य है। इन्हीं

दो महा काव्यों के आधार पर संस्कृत का विशाल साहित्य निर्मित हुआ है। संस्कृत के जितने कवि और नाटककार हुए हैं, सभी ने रामायण और महाभारत का आश्रय ग्रहण किया है।

बौद्ध धर्म का लोप होने पर नवीन-संस्कृत साहित्य का निर्माण हुआ। नवीन-संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य है पर उसे हम अपने जीवन की सहचारी नहीं बनावेंगे। उसमें आकार है, परन्तु गति नहीं; कृत्रिमता है, सजीवता नहीं।

संस्कृत-साहित्य के ह्रास-काल में मुसलमानों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। इससे संस्कृत-साहित्य की उन्नति में बाधा पहुँची। दो सौ साल के बाद वर्तमान भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण होने लगा। सर्व-साधारण में होने के कारण यह साहित्य खूब लोकप्रिय हुआ। यह साहित्य तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन का परिणाम था। यह आन्दोलन ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर जोर देता था। भक्ति-भाव के उन्मेष से कवियों ने जो रचनाएं कीं वे सभी सरस, सरल और हृदय-स्पर्शी थीं। अतएव मुसलमानों के आगमन का यह सुफल हुआ कि हिन्दी-साहित्य में शुष्क तर्कवाद का स्थान भक्तिवाद ने ले लिया।

अँगरेज़ों के भारत-विजय करने पर हिन्दू-साहित्य ने दूसरा रूप धारण कर लिया। अँगरेज़ी-भाषा और साहित्य का प्रचार बढ़ने पर भारतीयों ने उसमें नवीन ज्ञानालोक का दर्शन किया। वह था पाश्चात्य विज्ञान। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में भारतीय भाषाओं में अँगरेज़ी-साहित्य के ग्रन्थ अनुवादित होने लगे। पचास साल में पाठ्य-पुस्तकों और अनुवाद-ग्रन्थों की एक विशाल राशि खड़ी हो गयी। पर स्थायी साहित्य की दृष्टि से एक भी अङ्क न निकला।

आधुनिक साहित्य का अभी शैशव-काल है। हिन्दी साहित्य की जो कुछ उन्नति वर्तमान युग में हुई है उसका आरम्भ स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही किया। भविष्य में इसका क्या रूप होगा, यह कहा नहीं जा सकता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रहा है।

हिन्दी-साहित्य को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहला युग हिन्दी साहित्य का आदि काल है। दूसरे युग में हिन्दी-साहित्य की वृद्धि मुसलमानों के राजत्व काल में हुई। तीसरा युग अंगरेज़ों के शासन-काल से आरम्भ होता है। इन्ही युगों की विशेषताओं पर विचार कर हम हिन्दी-साहित्य का सौन्दर्य जानना चाहते हैं।

[२]

संसार में सभी तरह के कवि होते हैं। कुछ महाकवि होते हैं, और अधिकांश क्षुद्र कवि होते हैं। कविताएं अच्छी भी होती हैं और बुरी भी। परन्तु कविता अच्छी हो अथवा बुरी, वह कविता ही रहेगी। इसी प्रकार कवि चाहे सुकवि हो अथवा कुकवि, वह कवि ही रहेगा। कविता की परीक्षा में हमें उसकी इसी विशेषता पर ध्यान देना चाहिये। हिन्दी में महाकवि चन्द से लेकर आज तक सैकड़ों छोटे बड़े कवि हो गये हैं। कुछ अपनी रचना के कारण लब्ध-प्रतिष्ठ हैं। पर अनेक विस्मृति के गर्त में डूब गये हैं। सम्भव है, अपने जीवन-काल में उन्होंने भी सुख्याति पाई हो। परन्तु अब कोई उनका नाम तक नहीं लेता, उनकी रचना का आदर होना तो दूर रहा। यह सब होने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि वे कवि नहीं थे। कोई वृक्ष वर्षों खड़ा रहता है कोई चार ही

पाँच महीने में नष्ट हो जाता है। परन्तु वृक्ष की श्रेणी में दोनों का स्थान है। अपनी क्षण-भंगुरता के कारण वृक्ष, वृक्ष की श्रेणी से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हिन्दी के अप्रसिद्ध कवि भी कवियों की पंक्ति से हटाये नहीं जा सकते। यह सम्भव है कि समाज ने उनकी अवहेलना की हो। यह भी सच है कि अपनी अल्प शक्ति के कारण उनकी कविता की दीप-शिखा एक क्षुद्र सीमा से ही अवरुद्ध रही हो। परन्तु समाज की अवहेलना और निरादर पाकर भी कवि अपने स्थान पर बैठा ही रहेगा। यदि वह सचमुच कवि है तो सम्भव नहीं कि उसका प्रभाव बिलकुल ही नष्ट हो जाय। जो वृक्ष अपने जीवन काल में किसी का उपकार नहीं कर सकता वह अपने अस्तित्व मात्र से वन की श्यामता की वृद्धि करता है। नदी के स्रोत में मिट्टी के जो छोटे छोटे कण बहते चले जाते हैं उन पर किसी की दृष्टि नहीं जाती। परन्तु कभी उनसे एक ऐसा द्वीप निर्मित हो जाता है जिसे देख कर हम लोग विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। यही हाल क्षुद्र कवियों की क्षुद्र रचनाओं का है। अज्ञात रूप से साहित्य पर इसका जो प्रभाव चिराङ्कित हो जाता है वह कविता के विकास के लिये श्रेयस्कर है। अस्तु।

कविता सचमुच है क्या? कविता की इस परीक्षा में अच्छी और बुरी दोनों तरह की कविताएं हैं। रहस्यमयी कविता का स्वरूप पहचान लेना कठिन है। एक दिन एक कवि ने यह प्रश्न किया कि कविता की कसौटी है क्या? परन्तु कसौटी के ढूँढने के पहले हमें कविता ही ढूँढ लेनी चाहिये। सोने की कसौटी पर सोने की ही परीक्षा हो सकती है, कांच की परीक्षा में सोने की कसौटी काम नहीं देगी। इसीलिये

कविता चाहे अच्छी हो अथवा बुरी, सबसे पहिले हमें यही देख लेना चाहिये कि वह कविता है कि नहीं।

जो साहित्य--शास्त्र के मर्मज्ञ हैं वे कविता में रस और चमत्कार खोज लेते हैं। जिसमें उन्होंने इसका अभाव देखा उस को उन्हों ने कविता की पंक्ति से बाहर किया। परन्तु उन्हों ने यह विचार कभी नहीं किया कि कवित्व के सब गुणों से हीन पद्य--रचना अपढ़ लोगों के हृदय में क्यों स्थान पा लेती है। सड़क पर मजदूर और गँवार जो पद्य गाते फिरते हैं उनमें न तो रस का परिपाक हुआ है और न अलङ्कार का चमत्कार ही है। उनका कुछ अर्थ भी नहीं। तो भी उनसे उनका हृदय हिल जाता है। यदि लोक-प्रियता ही कविता की कसौटी समझी जाय तो ग्रामीण सङ्गीत ही कविता में सबसे ऊंचा स्थान पा जाय। हमें यह देखना चाहिये कि इन ग्रामीण सङ्गीतों से लेकर व्यास और वाल्मीकि के काव्यों तक में भावनाओं की वह कौन समान धारा है जो मूर्ख, विद्वान्, राजा और दरिद्र, सभी के हृदय में बह रही है। जो रचना उस भाव को जितनी अच्छी तरह व्यक्त करेगी वह उतनी ही अच्छी कविता कही जायगी।

विद्वानों के शब्द--जाल में पड़कर हम लोग कविता को रहस्यमयी समझने लगे हैं। जब हम से यह कहा जाता है कि अमुक रचना कविता है तब हम आँख फाड़ कर उसमें कवित्व ढूंढने लगते हैं और अन्त में हताश होकर कहने लगते हैं कि इसमें ऐसी कौनसी बात है जो हम नहीं जानते। यह कहना ऐसा ही है कि यह कैसा सौन्दर्य है; इसे तो हम बराबर देखते रहते हैं। इसीलिये अब तो असाधारणता ही सौन्दर्य का प्रधान लक्ष्य समझी जाती है। इसी असाधारणता के लिए कविता में शब्दों का जाल रचा जाता है।

अस्पष्ट भाव को स्पष्ट करने के लिये उपमा का प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु उपमा की सार्थकता के लिये तदनुकूल भाव की योजना की जाती है। छन्द और भाषा भाव के लिए नहीं हैं। पर हमारी समझ में जिन रचनाओं में ये बातें हैं वे उतने से ही कविता नहीं कही जा सकती हैं। कविता को सच्ची पहिचान है कवि का अन्तःकरण।

यदि कवि ने अन्तःकरण में किसी सौन्दर्य का दर्शन किया है तो यह सम्भव नहीं कि उसकी रचना में उस सौन्दर्य का आभास न मिले, चाहे उस में सौन्दर्य का रूप मलिन क्यों न हो। यह सौन्दर्य सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु जब हम उस सौन्दर्य का अनुभव न कर अपने मस्तिष्क की उत्तेजना मात्र से कविता लिखने का प्रयत्न करते हैं तब हमारी रचना उपहासास्पद हो जाती है। सौन्दर्य के अनुभव में कल्पना सहायक-मात्र है, वह स्वयं सौन्दर्य नहीं है। जिसमें कल्पना नहीं है वह तो कविता है ही नहीं। परन्तु जिस में कल्पना का रूप विकृत है वह भी कविता नहीं है। भाषा का सौष्ठव, अलङ्कारों की शोभा, छन्द का माधुर्य किसी रचना को विस्मयोत्पादक बना सकते हैं, परन्तु उस में सौन्दर्य का वह रूप नहीं दिखेगा जिसके लिये उसका हृदय सतृष्ण है।

विश्व का यह सौन्दर्य अनन्त है, परन्तु है यह सभी को लभ्य। सब से अधिक आश्चर्य की बात यह है कि यह सर्वदा नवीन रूप ही धारण करता है। यही कारण है कि वाल्मीकि, होमर, दान्ते, कालिदास, सूरदास आदि कवियों ने हमें जिस सौन्दर्य का दर्शन कराया है उसको उपलब्ध कर के भी हम सन्तुष्ट नहीं होते। सौन्दर्य का जो रूप उन्होंने दिखलाया है उसी में सौन्दर्य का अन्त नहीं होगया है। मनुष्यों की यह सौन्दर्य-तृष्णा कम नहीं होती। इसीलिये श्रेष्ठ कवियों की

रचनाओं से हमारी जो पिपासा दूर नहीं हुई उसे तृप्त करने के लिये जब छोटे कवि अपनी कविताओं का अंजलिदान करते हैं, तब हम उन्हें भी सोत्कण्ठ ग्रहण करते हैं।

हम ने अभी तक सौन्दर्य का ऐसा वर्णन किया है कि मानों वह कोई पदार्थ हो जिस का अधिक या अल्प अंश कविता में विद्यमान रहता है। सच पूछो तो सौन्दर्य हमारी मानसिक अवस्था का विकास-मात्र है। जो लोग गिरि-निर्झर में सौन्दर्य देखते होंगे उन्हें ऐसे भी मनुष्य मिलेंगे जो गिरि-निर्झर में किसी प्रकार का सौन्दर्य नहीं देखते। बात यह है कि जिन की मानसिक अवस्था जितनी कम उन्नत होगी, उन का सौन्दर्य-बोध भी उतना ही संकुचित होगा। 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' का अनुभव करने वाला सौन्दर्य का विराट रूप देखेगा। परन्तु जिस का हृदय उदार नहीं है वह स्वार्थ-साधन में ही सौन्दर्य देखेगा।

अब हम सौन्दर्य-बोध के आधार पर कविता का स्वरूप पहिचानने की चेष्टा करते हैं। जो कवि हैं वे या तो वाह्य-सौन्दर्य का वर्णन करेंगे या अन्तःसौंदर्य का। पशु, पक्षी, पहाड़, नदी अथवा स्नेह, दया, करुणा, ममता, क्रोध यही कविता के विषय हैं। परन्तु यदि कवि का सौन्दर्य-बोध संकुचित है तो उसका वर्णन भी संकुचित होगा और उसका प्रभाव भी क्षुद्र होगा। परन्तु यदि उसने पाठकों को अपने सौन्दर्य-बोध का अनुभव करा दिया तो उसका परिश्रम सार्थक है। भारत-भारती में गुप्तजी ने भारत के अतीत गौरव और वर्तमान दुरावस्था का चित्र खींचा है। इसके पहले उन्होंने अपने हृदय में उसका अनुभव ज़रूर किया होगा। यदि पाठकगण गुप्तजी के अन्तर्निहित चित्र का परिचय उनके काव्य में पा सकें तो भारत-भारती की रचना सार्थक

होगई। परन्तु यदि पाठकों के हृदय में कोई चित्र उदित नहीं हुआ, केवल क्षणिक उत्तेजना पैदा हुई, तो रचना विफल है।

रामचरित-मानस में तुलसीदास जी ने अपने भक्ति-भाव को चित्रित किया है। यदि पाठक उनके भाव में लीन हो गये तो रामचरित-मानस का उद्देश पूर्ण होगया। परन्तु यदि उससे उनका मनोविनोद ही हुआ तो रामचरित-मानस का गौरव घट गया। कवि की भावना को यदि हम हृदयङ्गम कर सकें तो उसकी रचना सफल हो गई। इस दृष्टि से अच्छी कविता वह है जो शुद्ध भावना उत्पन्न करे और बुरी कविता वह जो बुरी भावना उत्पन्न करे। परन्तु जिससे भावना उत्पन्न ही न हो वह कविता नहीं, शब्दजाल है।

यदि कवि ने अपने हृदय में सौंदर्य का शुद्ध रूप देखा हो तो वह अपनी रचना को श्रेयस्कर बना सकता है। यदि उसके हृदय में सौन्दर्य की मलिन छाया है तो उसकी रचना से ग्लानि होगी। परन्तु जिसकी रचना में सौंदर्य ही नहीं है वह सदैव अनिष्टकर होगी। उसकी रचना में मनुष्य का सौन्दर्य-बोध नष्ट हो सकता है और चित्त विक्षिप्त हो सकता है। ऐसी रचना सदैव असह्य होती है।

ग्रामीण सङ्गीतों में क्षुद्र सौन्दर्य की अस्पष्ट छाया रहती है, तो भी वही उनके हृदय में भावना की तरङ्ग उठा देती है। परन्तु रस की मृग-तृष्णा उत्पन्न करने वाली रचना पाठक को साहित्य की मरुभूमि में व्याकुल और विक्षिप्त कर डालती है। ऐसी रचनाओं से अरुचि फैलने के कारण साहित्य का अपकार ही होता है।

कविता के विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों की भिन्न भिन्न राय है। परन्तु कविता की व्याख्या चाहे जैसी की जाय,

इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि उसका उद्देश मानव-समाज के लिये अवश्य श्रेयस्कर है। कविता केवल विलास की सामग्री नहीं है। यदि कविता से केवल रसिकों का चित्त-विनोद हुआ, यदि कविता से केवल क्षणिक उत्तेजना उत्पन्न हुई तो क्या कविता का उद्देश पूरा होगया? कविता के विषय में कितने विद्वानों का यही मत है कि सामाजिक जीवन में कविता से कुछ लौकिक लाभ नहीं। उसकी अपेक्षा विज्ञान, इतिहास और दर्शन शास्त्र की चर्चा से देश और समाज का अधिक कल्याण है। कवि के कल्पित राज्य में रहने से किसी प्रकार की व्यवहारिक दक्षता नहीं आ सकती। पर सच बात यह है कि मनुष्य-समाज से पृथक कर देने पर कला का कोई मूल्य नहीं। सभी देशों में और सभी कालों में कविता मनुष्यों के दैनिक जीवन की सहचरी थी। सामाजिक जीवन पर भी कविता तथा अन्य ललित-कलाओं का प्रभाव बड़ा काम करता है। समाज में उच्च आदर्श स्थापित कर कविता चरित्र-गठन में सहायता करती है।

प्राचीन ग्रीस में शिल्प, नाटक और सङ्गीत आदर्श चरित्रगठन के प्रधान उपादान माने गये हैं। अँगरेज़ी के एक प्रसिद्ध लेखक, डिकिन्स साहब, ने ग्रीस की सङ्गीत-चर्चा के प्रसङ्ग में ग्रीक जाति की इस विशेषता का उल्लेख किया है। यूरोप के मध्य युग में काव्य-सहित्य, तथा सङ्गीत द्वारा ईसाई धर्म और तात्र धर्म ने समाज में प्रसार लाभ किया। युद्ध में न्याय-धर्म का पालन, सबलों के अत्याचार से दुर्बलों का उद्धार, स्त्री जाति के प्रति सम्मान और एक निष्ठ प्रेम की साधना इन आदर्शों का प्रचार समाज में सहित्य के ही द्वारा हुआ। भारतवर्ष में रामयण महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि काव्यों के आदर्श हिन्दू समाज के गार्हस्थ्य और

धार्मिक जीवन में स्वीकृत हुए। इन्हीं के प्रभाव से आधुनिक हिन्दू-समाज संगठित हुआ है।

पारस्परिक व्यवहार में प्रतिदिन इन्हीं आदर्शों का अनुसरण किया जाता है। कहने का मतलब यह कि समाज में अपना प्रभाव चिरस्थायी कर के ही कवि अक्षय हो गये हैं।

कवियों की तुलनात्मक अलोचना की जाती है। भिन्न भिन्न कवियों की काव्य-कलाओं का विश्लेषण कर बतलाया जाता है कि अमुक-कवि अमुक-कवि से श्रेष्ठ अथवा हीन है। हमारी समझ में कवियों की परीक्षा में यह कसौटी ठीक नहीं। समाज में जिस कवि का प्रभाव सब से अधिक है वही सर्व-श्रेष्ठ कवि है। जिस की रचना का पाठ कर प्रतिदिन हज़ारों मनुष्य आनन्द लाभ करते हैं और जिस से शिक्षा-लाभ कर अपने दैनिक जीवन में भी उस शिक्षा का उपयोग करते हैं, उसी की कृति साहित्य में प्रथम श्रेणी पाने का दावा कर सकती है। जो कविता कुछ अल्प-संख्यक काव्य-रसिकों के मनोविनोद के लिये है; जिस के अर्थ-गाम्भीर्य और भाव-सौन्दर्य का रसास्वादन कर कुछ ही विद्वान् क्षणिक उत्तेजना प्राप्त करते हैं, जो रचना शब्द-सौष्ठव और अलङ्कार-चमत्कार से पूर्ण होकर भी मनुष्य के दैनिक जीवन में व्यवहृत नहीं होती, वह कभी श्रेष्ठ स्थान नहीं पा सकती ।

हिन्दी-साहित्य-समालोचना में एक विषय और भी विचारणीय है। वह है कवियों की अनुकरणशीलता। यह कहा जाता है कि अमुक कवि ने अमुक कवि का अनुसरण किया है। अतएव अमुक कवि में अमुक कवि से अधिक मौलिकता है। मौलिकता का स्वरूप निश्चित करते समय

हमें तत्कालीन समाज की भावना पर ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक युग में एक विशेष भावना का प्राबल्य रहता है और वह भावना उस समय के सभी कवियों की रचनाओं में विद्यमान रहती है। अंगरेज़ी में इसको The spirit of the age कहते हैं। जब हिन्दी-सहित्य में शृंगार-रस का प्राबल्य हुआ, तब उस रस के सूक्ष्म विश्लेषण में सभी कवि प्रवृत्त हुए। शृंगार-रस-संबंधी संस्कृत-साहित्य का भी मन्थन किया गया। फल यह हुआ कि सभी कवियों ने उस से यथेष्ट भाव ग्रहण किया। जब हम कहते हैं कि अमुक हिन्दी कवि ने अमुक हिन्दी कवि से भाव ग्रहण किया तब अधिक सम्भावना इस बात की भी होती है कि उन दोनों कवियों ने एक तीसरे ही कवि से भाव ग्रहण किया हो।

परन्तु हमें यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिये। सभी देशों में, सभी कालों में कवियों का कार्यक्षेत्र एक सा नहीं रहता। सच तो यह है कि कवियों का कार्यक्षेत्र क्या है, यह कहना बड़ा कठिन है। आज तक जितने कवि हुए हैं उन्होने एक ही पथ का अनुसरण नहीं किया। सबके आदर्श भिन्न भिन्न थे। महाकवि वाल्मीकि ने अपनी रामायण की रचना में जो आदर्श रक्खा था वह कालिदास और भारवि के काव्यों में नहीं। योरोपीय साहित्य में होमर का जो आदर्श था वह पोप, वर्ड्सवर्थ अथवा टेनीसन की रचनाओं में नहीं पाया जाता। यहाँ हम किसी कवि की क्षुद्रता अथवा महत्ता पर विचार नहीं कर रहे हैं, हम तो यहाँ सिर्फ उनके आदर्श पर विचार कर रहे हैं। इन सब कवियों की कृतियों पर थोड़ा भी ध्यान देने से यह निश्चित हो जाता है कि उन्होंने अपने अपने देश और काल की रुचि का ख़याल करके भिन्न भिन्न आदर्शों का अनुसरण किया है। यही उचित भी है। कवि को

अनुसरण न करना चाहिये; उसे कोई नई बात पैदा करनी चाहिये। जिस पथ पर एक कवि को सफलता हुई है उसी पर चल कर दूसरा भी कवि होसके यह सम्भव नहीं। देश काल में भेद पड़जाने पर कभी कभी तो ऐसा करना अत्यन्त उपहासास्पद हो जाता है। अंगरेज़ी-साहित्य के इतिहास में एक ऐसा उदाहरण है भी। प्रसिद्ध लेखक एडिसन के समय में ड्यूक आफ़् मार्लबरो के विजय-प्राप्त करने पर एक काव्य लिखा गया था। उसमें कवि ने ड्यूक को होमर के वीरोचित गुणों से युक्त कर के कवच और सन्नाह धारण करा कर युद्ध-भूमि में अग्रगामी योद्धा के वेष में उपस्थित कराया था। प्राचीन काल में वीरता के आदर्श राम और हेक्टर थे। पर अब तो नेपोलियन के समान मनुष्य ही विश्व-विजयी हो सकते हैं। इसलिये होमर अथवा वाल्मीक के युद्धवर्णन का आदर्श आधुनिक कवियों के काम का नहीं। आदर्श तो बदलते ही हैं, विषय भी परिवर्तित होते रहते हैं। जिन विषयों को प्राचीन कवि पद्यबद्ध करने के योग्य नहीं समझते थे उन पर आधुनिक कवि काव्य रचना करते हैं। अतएव यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि कवि का कार्य-क्षेत्र क्या है।

कहते हैं कल्पना ही कवि का कार्यक्षेत्र है, सत्य नहीं; सौंदर्य है, ज्ञान नहीं; हृदय है, मस्तिष्क नहीं; भाव है, विवेक नहीं। भावों की प्रधानता सिर्फ काव्य में ही नहीं मानी जाती किन्तु सभी ललित कलाओं में भावों का प्राधान्य माना जाता है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। पर आप किसी भी कला को लीजिये, उस में विशेषत्व प्राप्त करने के लिये एक विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती है। जब

उसका निर्दिष्ट ज्ञान नहीं होता तब उसमें सफलता नहीं प्राप्त होती। ज्ञान के विकास से भावों का विकास होता है। यदि यह बात न होती तो कवि अपने बाल्य-काल में ही उत्तमोत्तम कविता लिख डालता और इटली के रैफ़ल नामक चित्रकार के सबसे उत्तम चित्र उसके बाल्य काल में ही अङ्कित हुए होते; क्योंकि बाल्य काल में भावों का जितना प्राबल्य रहता है उतना प्रौढ़ावस्था में नहीं। सच तो यह है कि ज्ञान की उर्जितावस्था में ही कला का सबसे अच्छा विकास होता है। हृदय के साथ मस्तिष्क की पुष्टि होने पर भावों की उत्तम अभिव्यक्ति होती है।

यदि हमारा यह सिद्धान्त ठीक है तो हमें कहना चाहिये कि विज्ञान के विकास से कला का ह्रास नहीं, प्रत्युत वृद्धि होती है। लार्ड मेकाले ने मिल्टन के विषय में कहा है कि मिल्टन उस युग में हुआ जब कविता का समय गुजर चुका था। पर हम समझते हैं कि मिल्टन का उदय अपने ही उपयुक्त समय में हुआ। उसके काव्यों में भावों की जो गम्भीरता और भाषा की जो प्रौढ़ता है वह उसीके युग के अनुकूल है। भारतीय-साहित्य के इतिहास पर एक बार दृष्टि डालिये। वीर रसात्मक काव्य के अन्तिम कवि व्यास थे। उनके बाद कोई भी कवि वीर–रस की कविता लिखने में यथेष्ट समर्थ नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि व्यवसाय की समृद्धि के साथ ही साथ विलासिता की वृद्धि होती है। उसके दो परिणाम होते हैं। एक तो विला–सिता से विरक्ति और दूसरे उससे अनुरक्ति। अतएव शांति के समय वैराग्य–रस अथवा शृंगार रस की ही कवितायें लिखी जाती हैं। जब जाति में संघर्षण रहता है, परस्पर द्वन्द्व युद्ध चलता है, तब वीर-रस की कविता का समय

आता है। मिल्टन के शैतान का व्याख्यान इंग्लैण्ड के विप्लव-युग के ही उपयुक्त था। चन्द का रासो और भूषण की कविता अपने युग के अनुकूल ही थी। मध्य-युग में क्षीण-शक्ति और राजनैतिक स्वत्व से हीन हिन्दू-जाति भगवान का आश्रय खोजे और भक्ति-रस के काव्यों में तल्लीन हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं है।

हम कह आये हैं कि काव्यों में भावों का आधिपत्य स्वीकृत किया जाता है। परन्तु क्या काव्य में और क्या अन्य ललित कलाओं में, सभी में भावों के स्पष्टीकरण से चरम सत्य का ही विकास होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कविता का सत्य दर्शन-शास्त्र या विज्ञान का सत्य नहीं है और न उसमें वह सत्य है जो किसी धर्म अथवा मत विशेष से स्पष्ट किया जाता है। उसमें सत्य का प्रकाश कुछ दूसरी ही रीति से होता है। कवि किसी मत का अनुयायी हो, कोई भी सिद्धान्त मानता हो, पर ज्योंही वह अपने सिद्धान्तों को पद्य-बद्ध करता है अथवा वर्डस्वर्थ अथवा ड्राईडन के समान पद्यों में धार्मिक शिक्षा देना चाहता है त्योंही वह कवि के उच्च आश्रम से गिर जाता है। कवि का काम न तो शिक्षा देना है और न दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या करना है। उसके हृदय में तो वह गान उद्गत होना चाहिये जिससे समस्त मानव जाति की हृत्तन्त्री में विश्व वेदना का स्वर उठे।

मनुष्यों में ईश्वर दत्त शक्तियों में से वाणी की महिमा सबसे अधिक है। हिन्दू-मात्र उसे साक्षात देवी सरस्वती के रूप में उपास्य समझते हैं। संसार के बाल्यकाल से लेकर आज तक इसी वाणी का ही विकास होता जा रहा है।

जब भावों की वृद्धि होती है तब भाषा में रूपान्तर होता है। जब कोई भाषा भाव ग्रहण करने में असमर्थ होती है तब उसका अन्त हो जाता है और उसका आसन दूसरी भाषा ले लेती है। यही कारण है कि भाषा एकसी कभी नहीं रहती। उन्नतिशील मानव जाति के लिये भाषा में परिवर्तन होते रहना आवश्यक है। सारांश यह कि सभी भाषाएँ सभी भावों को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होतीं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न स्वर प्रकट होते हैं। भारतीय भाषाओं में जो भाव व्यक्त हो सकते हैं वे भाव योरोपीय भाषाओं में भली भाँति व्यक्त नहीं होंगे। तो भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि भाव स्रोत की एक ही धारा एक ही समय में सर्वत्र बहती है। प्राचीन काल में सभी कवि प्रकृति के देदीप्यमान शक्तियों का गान करते हैं। इसके बाद कवि वीरों का गान करते हैं। इसके बाद नाटकों की सृष्टि होती है, भाषा का माधुर्य बढ़ता है, अलङ्कारों की ध्वनि सुन पड़ती है और पद नैपुण्य प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद सांसारिक विषयों से घृणा होती है। भक्ति के उन्मेष में कोई प्रकृति का आश्रय लेता है, कोई प्राचीन आदर्शों का।

बाह्य प्रकृति के बाद कवि अपने अन्तर्जगत की ओर दृष्टिपात करता है। तब साहित्य में कविता का रूप परिवर्तित हो जाता है। कविता का लक्ष्य 'मनुष्य' ही हो जाता है। संसार से दृष्टि हटाकर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह सान्त में अनन्त का दर्शन करता है और भौतिक पिण्ड में असीम ज्योति का आभास पाता है। हमारा विश्वास है कि सभी देशों के साहित्य में भविष्य कवि का लक्ष्य इधर ही होगा। अभी तक

वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखाने से निकले हुए मजदूरों को अपने काव्य का नायक बनाना नहीं चाहता था। वह राज स्तुति, वीणा था अथवा प्रकृति वर्णन में ही लीन रहता था। परन्तु अब क्षुद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत् का रहस्य सबको विदित होगा। जगत् का रहस्य क्या है, इस पर एक ने कहा है कि साधारणता में यह रहस्य नहीं है। जो साधारण है वही रहस्यमय है; वही अनन्त सौन्दर्य से युक्त है। इसी सौन्दर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य कवियों का काम होगा।

द्वितीय परिच्छेद

[१]
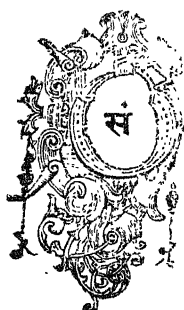
सार में छोटे-बड़े सभी तरह के मनुष्य रहते हैं। वे सदैव महत्त्व-पूर्ण कार्यों में निरत नहीं रहते। अधिकांश का जीवन-काल ऐसे ही कार्यों में व्यतीत होता है जो तुच्छ कहे जाते हैं। मनुष्य अपने जीवन में सुख-दुख का अनुभव करता है, कभी किसी से प्रेम करता है तो कभी किसी से घृणा करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह के चक्र में भी वह पड़ा रहता है। तुच्छ कार्यों में निरत रहने पर भी वह इतना अवश्य अनुभव करता है कि उसका जीवन इतना ही नहीं

है। उसके हृदय में यह विश्वास छिपा हुआ रहता है कि वह कुछ और भी है। कभी कभी वह उस कुछ और को भी प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसीलिये वह जब किसीमें किसी प्रकार की महत्ता देखता है तब वह उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह शक्ति की महत्ता को समझता है, इसीलिये वह शक्ति का अनुभव करना चाहता है। तभी मनुष्य के जो जो प्रतिनिधि हैं वे सभी उसकी कल्पना के विषय हो जाते हैं। मनुष्यों को महत् भाव की ओर अग्रसर कराने के लिये साहित्य की सृष्टि होती है। यह भाव चिरन्तन है, अतएव जो साहित्य इस भाव की पुष्टि करता है वह भी चिरन्तन है। वह साहित्य लौकिक साहित्य है। वह विद्वानों की सम्पत्ति नहीं है। उस पर सर्व साधारण का अधिकार होता है। जब विद्वान् कला की मीमांसा में निरत रहते हैं तब सर्व-साधारण का परितोष इसी साहित्य से होता है। विद्वानों को सर्वदा इसीकी चिन्ता रहती है कि ज्ञान की धारा मलिन न होने पावे। वे ज्ञान के क्षेत्र को पाण्डित्य की चहार दीवारी से घेर डालते हैं। उनका साहित्य अगाध कूप का जल है, जिसको प्राप्त करने के लिये गुण की ज़रूरत होती है। परन्तु लौकिक साहित्य सर्व साधारण के लिये है। यह वह बहता हुआ नीर है जिससे जो चाहे अपनी प्यास बुझा सकता है। इसके लिये गुण की ज़रूरत नहीं पाण्डित्य और विद्वत्ता की आवश्यकता है।

इस साहित्य की पहली विशेषता यह है कि यह सर्व-साधारण की भाषा में निर्मित होता है। अनादि काल से मनुष्यों की एक भाषा है, जो सर्वथा जीवित रहती है। उसका स्थान विद्वानों के कोष में नहीं, सर्व-साधारण की अक्षय निधि में है। विद्वानों के कोष में भाषा स्थिर हो जाती

है, परन्तु सर्व साधारण की अक्षय निधि में भाषा चिर नवीन बनी रहती है। दूसरी विशेषता यह है कि इस साहित्य में उन्हीं भावों की प्रधानता रहती है जिनसे किसी जाति की जातीयता है। प्रत्येक जाति की एक ऐसी विशेषता होती है जिसके कारण वह अन्य जातियों से सम्पर्क
अपना अस्तित्व नहीं खो बैठती। भारतवर्ष में वैदिक काल से लेकर आज तक अनेक जातियों का सम्मिलन हुआ
उनमें कुछ जातियों का तो अब पता तक नहीं लगता। वे हिन्दू-जाति में बिलकुल लुप्त हो गई हैं। यह सम्भव नहीं कि हिन्दू-जाति पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा हो। परन्तु हिन्दू-जाति की जो विशेषता वैदिक--काल में थी वह आज तक वनी हुई है। उसी के कारण वर्तमान हिन्दू वैदिक-काल के आर्यों से अनेक बातों में भिन्न होते हुए भी अपना सम्बन्ध उन्हीं से जोड़ता है। यह सम्बन्ध लौकिक साहित्य के कारण अक्षुण्ण बना रहता है। तीसरी विशेषता यह है कि यह साहित्य किसी से कुछ ग्रहण करने में कुछ सङ्कोच नहीं करता। अतएव इसका सदा विकास होता रहता है। जिस प्रकार यह जातीय भावों का संरक्षक है उसी प्रकार यह सार्व-देशिक भावों का भी प्रचारक है। समाज पर इसी साहित्य का प्रभाव पड़ता है और समाज में जो कुछ परिवर्तन होते हैं वे सब इसी के परिणाम हैं। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में जो रचनाएँ हुई हैं वे इसी साहित्य के फल हैं।

बौद्ध-धर्म के पतन के बाद देश में जिस साहित्य की प्रतिष्ठा हुई उसका सम्बन्ध सर्व-साधारण से नहीं था। जिस प्रकार बौद्धों और नव-हिन्दू-धर्म के आचार्यों के शास्त्रार्थ और विवाद कुछ थोड़े विद्वानों के लिये थे उसी प्रकार नव-हिन्दू-साहित्य के ग्रन्थ-रत्न भी विद्वानों के लिये

थे। धर्म की सूक्ष्म मीमांसा, दर्शन की जटिल व्याख्या और काव्य का चमत्कार सर्व-साधारण के लिये अनधिगम्य ही है। परन्तु जब देश में इनकी चर्चा हो रही थी तब क्या सर्व-साधारण जड़ीभूत हो रहे थे? क्या उनके हृदय में किसी प्रकार की भावनाएँ नहीं उठ रही थीं? क्या अपने दैनिक जीवन के लिये उस धर्म की प्रतीक्षा कर रहे थे जिसका निर्णय बौद्ध-विद्वानों और हिन्दू-धर्म के आचार सभाओं में बैठकर कर रहे थे? क्या किसी कालिदास, भवभूति, बाण अथवा श्रीहर्ष की रस-धारा के लिये वे अपने हृदय को शुष्क बना रहे थे? सच बात यह है कि हमारे दैनिक जीवन में अन्तः सलिला होकर जो चिर-जीवन की धारा बह रही है उसका प्रभाव कभी अवरुद्ध नहीं होता। सर्व-साधारण में मनुष्यों का सम्मिलन क्षण भर के लिये नहीं रुकता। यही कारण है कि देश से बहिष्कृत होने पर भी बौद्ध-धर्म हिन्दू-समाज पर अपना प्रभाव छोड़ गया। किसी दर्शन-शास्त्र और धर्म-शास्त्र के द्वारा यह कार्य सम्पन्न नहीं हुआ। जिस साहित्य का यह फल है वह मनुष्यों की चिरजीवन धारा में लुप्त हो गया है। तत्कालीन मनुष्यों के सुख-दुख में जो साहित्य उनका साथ देता था, वह कहाँ गया? खेतों में बैठकर किसान जिन कथाओं से अपने पूर्वजों के कृत्यों का स्मरण करते थे, घर में जिनसे उनका मनो-विनोद होता था, जिन प्रेममय गानों को सुनकर क्षण भर उनका हृदय-स्पन्दन रुक जाता था, जिन कविताओं के द्वारा उनके हृदय में भक्ति-भाव का उद्रेक होता था उनका अब पता नहीं लग सकता; पर उन्हीं के आधार पर संसार के श्रेष्ठ साहित्य की रचना हुई है। हिन्दी के आदिकाल के कवियों ने उन्हीं से अपने काव्य की सामग्री एकत्र की है।

सभी देशों में आदिकाल के साहित्य में एक ही भाव की प्रधानता रहती है। यह भाव मनुष्य-जाति की समानता प्रकट करता है। देश और काल का व्यवधान होने पर भी मनुष्य सर्वत्र मनुष्य ही रहता है। अतएव वह जब कभी कहीं महत्ता देखता है तब उसके हृदय में भिन्न-भिन्न भाव उदय होते हैं! कभी उसे विस्मय होता है, कभी वह आतङ्क में डूब जाता है। कभी भक्ति से उसका मस्तक अवनत हो जाता है और कभी आनन्द से उसका हृदय भर जाता है। विस्मय, आनन्द, आतङ्क और भक्ति, ये सब मनुष्य के अन्तर्गत अनुराग के फल हैं। महत्ता पर मनुष्य का स्वाभाविक अनुराग है। इसीसे वह उसकी ओर आकृष्ट होता है और उससे जो जो भाव उत्पन्न होते हैं उनको वह बार बार अनुभव करने की इच्छा करता है। यदि वे भाव क्षणिक हुए तो उससे उसकी तृप्ति नहीं होती और वह अन्यत्र महत्ता का दर्शन करने की चेष्टा करता है। प्राचीन काल में प्रकृति की जिन विभूतियों में मनुष्य महत्ता का अनुभव करता है उनके प्रति उसका वह भाव सदा नहीं बना रहता है। जब तक प्रकृति की शक्ति रहस्यमयी होती है तभी तक वह उसमें महत्ता का अनुभव भी करता है। जब वह उसके लिये साधारण हो जाती है तब वह उससे सन्तोष लाभ नहीं करता। पर इसका यह मतलब नहीं है कि ज्ञान की वृद्धि होने पर मनुष्य प्रकृति में महत्ता ही नहीं देखता। बात यह है कि जब वह अपनी कर्तृत्व शक्ति का अनुभव करने लगता है तब वह प्रकृति को स्वायत्त करना चाहता है। उस समय वह मनुष्य की शक्ति में जो महत्ता देखता है उसे वह प्रकृति में नहीं पाता। अज्ञान के कारण प्रकृति में उसने जो शक्ति आरोपित की थी उसे वह मनुष्य पर

आरोपित करता है। फिर भी प्रकृति का एक गुण ऐसा है जो उसके लिये सदैव चित्ताकर्षक बना रहता है। वह है उसका चिर-नवीन सौन्दर्य। अतएव यह सौन्दर्य उसकी कल्पना का विषय बना रहता।

जब मनुष्य मानवीय शक्ति में महत्ता देखने लगता है तब उसकी दृष्टि कहाँ जायगी? मध्य-युग में मनुष्य राज-सभा में ही शक्ति की पराकाष्ठा देखता था। उस समय राजा ही मानवीय शक्ति का प्रतिनिधि होता था। जब तक देश में राजशक्ति अक्षुण्ण रही तब तक राजा ही मनुष्य की कल्पना का आदर्श रहा। राजा का प्रेम, राजा का युद्ध, राजा की विजय, यही सर्व-साधारण के लिये महत् होना चाहिये। इसीलिये सभी देशों की प्राचीन कथाओं में राजा का ही वर्णन है। राजा को आदर्श मानकर मनुष्य उसमें अपनी समस्त इच्छाओं का परम परिणाम देखना चाहता है। राजा को सबसे अधिक रूपवान होना चाहिये। उसमें शक्ति भी असाधारण हो। मनुष्यों में जो जो गुण हो सकते हैं उन सबका समावेश उसमें होना चाहिये। उसके लिये विलास की सामग्री भी अद्वितीय होनी चाहिये। यह सब कुछ होने पर भी कथाओं में राजा का जीवन सुखमय नहीं होता। उसे सभी प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। उस के शत्रु विकट होते हैं। परन्तु अन्त में वह सब को पराभूत कर देता है। सङ्कट में वह धैर्यच्युत नहीं होता। प्रलोभन में पड़कर उसकी मति भ्रष्ट नहीं होती। यही बात श्रेष्ठ महा काव्यों से लेकर ग्राम्य कथाओं तक में पाई जाती है। लौकिक साहित्य में जातीय पराभव की कथा नहीं प्रचलित होती। यदि रावण के वंशधर लङ्का में जीवित होते तो श्रेष्ठ महाकाव्य होने पर भी रामयण उनके लिये आदरणीय नहीं होती।

मनुष्य अपने नायक को आशा-निराशा, सुख-दुःख और उत्थान-पतन के चक्र में पड़ा हुआ देख सकता है, पर उसका पराभव उनके लिये असह्य है। धर्म और कर्त्तव्य की वेदी पर वह अपने नायक को बलि होते हुए देख लेगा, परन्तु यह पराभव नहीं, विजय है। पृथ्वी पर स्वर्ग की जय है। उससे पार्थिव शक्ति की अपेक्षा आत्मिक शक्ति की श्रेष्ठता सूचित होती है। इसके सिवा हिन्दू-जाति एक अदृष्ट-शक्ति की विद्यमानता सदैव से स्वीकार करती आई है। इस शक्ति के आगे मनुष्य का पुरुषार्थ कुछ काम नहीं करता। मनुष्य के उत्थान-पतन में वही शक्ति काम करती है। हिन्दू-काव्यों में अभिशाप के द्वारा पृथ्वी की सबसे बड़ी शक्ति भी पराभूत हुई है। हिन्दी-काव्यों में जब किसी नायक का पराभव हुआ है तब इसी अदृष्ट-शक्ति के बल से हुआ है। चन्द के पृथ्वी राज रास में भी यही बातें हैं।

प्राचीन कथाओं का एक प्रधान विषय प्रेम होता है। समाज में स्त्रियों का जो स्थान होता है उसीके अनुसार साहित्य में उनका चरित्र प्रदर्शिति होता है। परन्तु प्रेम की कथा सर्वदा एकसी बनी रहती है। प्राचीन भारतीय-साहित्य में स्त्री-चरित्र का जो उत्कर्ष हम देखते हैं वह हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। सच तो यह है कि हिन्दी-साहित्य में अभी तक किसी नारी चरित्र की सृष्टि नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि प्राचीन हिन्दू-समाज में स्त्रियों का जो गौरव-पूर्ण स्थान था वह मध्य-युग में नहीं रहा। परन्तु हिन्दी में प्रेम-वर्णन का अभाव नहीं है। चन्द बरदाई के काव्य में जो स्त्री-चरित्र अङ्कित हुआ है वह केवल पुरुष की क्षमता का सूचक है। तो भी स्त्री-जाति का जो स्वभाव-सुलभ प्रेम है

उसका दिग्दर्शन अवश्य हुआ है। हिन्दू-काव्यों में प्रेम का पर्यवसान विवाह में हुआ है। विवाह में कर्तव्य-ज्ञान रहता है। समाज का कल्याण उस पर निर्भर है। कर्तव्य-ज्ञान रहित लालसा को हिन्दू-समाज में प्रेम का स्थान नहीं दिया गया है। हिन्दू-स्त्री के सतीत्व की रक्षा तभी हो सकती है जब उसका-प्रेम कर्तव्य-पथ हो। हिन्दी के परवर्ती कवियों ने जिस निर्बोध लालसा का चित्र अंकित किया है वह प्रेम नहीं, उद्दाम वासना है। समाज की असंयतावस्था में ही मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ प्रचण्ड होती हैं। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में समाज सुव्यवस्थित हो गया था। तब हिन्दू-धर्म ने सामाजिक नियमों में स्थिरता ला दी थी। उस समय देश में राज-सत्ता ही की समस्या थी। धार्मिक और नैतिक नियमों की सीमा थी, परन्तु राज-सत्ता की कोई सीमा नहीं थी। जिस प्रकार धर्म-गुरुओं पर समाज का भार था उसी प्रकार राज्य का भार राजा पर था। सर्व-साधारण में देश-भक्ति नहीं थी, राज-भक्ति थी। अतएव तत्कालीन साहित्य में हमें समाज की संयतावस्था का चित्र मिलता है और असंयत राज-शक्ति का। राजा ही सम्पूर्ण देश का केन्द्र था। सर्व साधारण का आत्मत्याग उसीके लिये था। जब तक भारतवर्ष में हिन्दू-साम्राज्य रहा तब तक राज-भक्ति और धर्म-भक्ति में कभी सङ्घर्षण नहीं हुआ। इसीलिये आदिकाल में भारतीयों की धर्म-बुद्धि निश्चेष्ट सी रही। सर्व साधारण अपने धर्म की रक्षा का भार ब्राह्मणों को सौंपकर अपने कर्तव्य पालन में निरत रहे। राजकीय सत्ता अव्यवस्थित होने के कारण राज्य की रक्षा के लिये सभी सावधान थे। अतएव देश में क्षात्र-धर्म चैतन्य था। इसी भाव को प्रबुद्ध रखने के लिये लौकिक-साहित्य में वीर-गाथाएँ

प्रचलित थीं। जब हिन्दू-साम्राज्य का पतन हो गया तब भी देश में स्वाधीनता के भाव प्रबल थे। चन्द वरदाई के समय से लाल कवि तक कितने ही कवि हुए, जिन्होंने म्रिय-माण हिन्दू-जाति में स्वाधीनता का भाव जागृत रखने की चेष्टा की।

चन्द कवि के काव्य में क्षात्र-धर्म का जैसा चित्र अंकित हुआ है वह सर्व-साधारण की भावना का प्रतिच्छाया है। कवि ने उसमें सर्व-साधारण के भाव को ही एक रूप दिया है। इस रूप-निर्माण में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अवश्य सहायता ली है। चन्द कवि ने ग्रन्थारम्भ में जिन कवियों की वन्दना की है वे तो वन्दनीय ही हैं। परन्तु उनके सिवा हम उन अज्ञात कवियों की भी वन्दना करते हैं जिनके कारण लौकिक-साहित्य सदैव जीवित बना रहता है। वही विचार-धारा को विछिन्न नहीं होने देते। क्षुद्र होने पर भी उन्हीं की रचनाओं के आधार पर सत्साहित्य की सृष्टि होती है।

[२]

चन्द हिन्दी के आदि कवि माने जाते हैं। विद्वानों की राय है कि उनका जन्म काल सन् ११२८ है। उनके विषय में यह भी कहा जाता है कि वे प्रायः ६५ वर्ष तक जीवित रहे। उनका जीवन-काल दिल्लीश्वर महाराज पृथ्वी-राज की राज सभा में व्यतीत हुआ। वे राज-कवि थे और महाराज पृथ्वीराज के प्रेम-पात्र भी। राजाओं के कृपा-पात्रों पर विद्वेषियों की सदैव कुदृष्टि रहती है। यह सम्भव नहीं है कि चन्द कवि का विरोधी कोई भी न रहा हो। उनकी रचनाओं की भी निन्दा करने वाले रहे होंगे। ऐसे ही विरो-धियों के सम्बन्ध में चन्द कवि ने लिखा है—

सरस काव्य रचना रचौं खल जन सुनिन हसन्त ।
जैसे सिंधुर देखि मग स्वान सुभाव भुसन्त ॥

किन्तु चन्द को अपने निन्दकों की परवा नहीं थी। उन्हें अपनी कवित्व शक्ति पर पूरा विश्वास था। परन्तु चन्द कविता की महत्ता को खूब समझते थे। वे जानते थे कि कवि का पद बड़ा ऊंचा है। उन्होंने अपनी कविता के सम्बन्ध में लिखा है—

कवी कित्ति कित्ती उकत्ती सु दिख्खी ।
तिनैं की उचिष्टी कवी चन्द भख्खी ॥

चन्द का पृथ्वीराज-रासो हिन्दी साहित्य का पहला महाकाव्य है। विद्वानों की राय है कि पृथ्वीराज-रासो में कुछ प्रक्षिप्त अंश भी हैं। यह भी कहा जाता है कि उसका अन्तिम अंश चन्द के पुत्र जलहन का लिखा हुआ है। रासो में तो यह कहा गया है—

प्रथम वेद उद्धार वंभ मछहत्तन किन्नो ।
दुतिय बीर बाराह धरनि उद्धरि जस लिन्नो ॥
कौमारक नभ देस धरम उद्धरि सुर सष्षिय ।
कूरम सूर नरेस हिन्द हद उद्धरि रष्षिय ॥
रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि ।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत चन्द नन्द उद्धरिय तिमि ॥

अर्थात् वेदों का उद्धार पहले मत्स्य ने किया। फिर बाराह ने पृथ्वी का उद्धार कर यश प्राप्त किया। कुमार ने स्वर्ग में धर्म का उद्धार किया। इसके साक्षी स्वयं देवगण हैं। कछवाहे शूर नरेश ने भारत का उद्धार किया। राजा भोज ने जिस प्रकार हनुमानकृत रामचरित्र का उद्धार किया

उसी प्रकार कवि चन्दकृत पृथ्वीराज के सुयश से पूर्ण इस काव्य का उद्धार चन्द के पुत्र ने किया।

उपर्युक्त पद्य से क्या यह अनुमान किया जाय कि चन्द का महाकाव्य बिलकुल लुप्त ही हो गया था और उसे जल्हन अथवा चन्द के ही किसी वंशज ने फिर से लिखा? कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि पृथ्वीराज रासो के कितने ही अंश कविता के सभी गुणों से मुक्त हैं।

पृथ्वीराज दिल्लीश्वर थे। दिल्ली की प्रशंसा में कहा गया है—

दिल्लि भट्ट सुयानक दिल्लि धरं।
जमुना जल राजत पाप हरं।
तिह ध्रम्म सुतं नृप ध्रित्त दई।
सोइ दिल्लिय राजस राज भई॥
इंदपथ्थ सु पूरब नाम धरं।
इन काज सु पंडव जुद्ध जुरं।
चव पंथ पती-पति पाप हरै।
रवि की तनया तन तेज धरै॥
जन सब्ब सुखी कृत विद्य महं।
पुर मोद प्रमुद्दनि पूरि रहं।
इतनी विधि दिष्षत थान गयो।
स्रग लोक समान सुतेय तयो।

अर्थात् यह दिल्लीश्वर का सुन्दर स्थान है। यहां पापों को दूर करने वाली यमुना जी वह रही हैं। यह वही स्थान है जिसे महाराज धृतराष्ट्र ने धर्म-पुत्र को दिया था। यह राज्यश्री से युक्त है। पहले इसका नाम इन्द्रप्रस्थ था। इसीके लिए पाण्डवों ने युद्ध किया था। चारों मार्गों में

पतित शिरोमणि के भी पापों को दूर करनेवाली रविनन्दिनी विराजमान है। सभी सुखी हैं, सभी कृतविद्य हैं। पुर आमोद-प्रमोदों से पूर्ण है।

चन्द उस युग में हुए हैं जब देश में क्षात्र-धर्म चैतन्य था। उन दिनों क्षत्रियों में शौर्य था, साहस था, विश्वास था, सरलता थी। उनमें दूर दर्शिता नहीं थी। वे युद्ध में प्राण देना जानते थे पर छल से विजय प्राप्त कर लेना उन्हें अभीष्ट न था। आत्म-मर्यादा, स्वाधीनता और कुल-गौरव की रक्षा करना उनका एक मात्र धर्म था। विशाल, चिरस्थायी साम्राज्य स्थापित करने की उन्होंने कभी चेष्टा ही नहीं की। युद्ध ही उनका व्यवसाय था। युद्ध-स्थल ही उनके लिए क्रीड़ा-स्थल था। सभी समय वे युद्ध के लिए प्रस्तुत रहते थे। ऐसे लोगों के लिए जो काव्य लिखा जायगा उसमें रस का प्रवाह नहीं बहेगा और न शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का अपूर्व विन्यास ही दृग्गोचर होगा। उसके छन्दों में होगी छिप्रगति, शब्दों में भेरी-रव और भावों में रणोल्लास। कवि को कल्पना के लिए अवकाश नहीं है। अपने आदर्श वीर का चित्र अङ्कित करने के लिए उन्हें उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की खोज करनी नहीं पड़ी।

हिन्दवान पान उत्तम सुदेस।
तहं उदित द्रुग्ग दिल्ली सुदेस॥

संभरि नरेस चहुआन पान।
प्रथिराज तहाँ राजंत भान॥

बैसह बरीस षोड्स नरिन्द।
आजानु बाहु भुअ लोकयन्द॥

संभरी नरेस सोमेस पूत ।
देवंत रूम अवतार धूत ।

(४)

सामन्त सूर सब्बै अपार ।
भूजान भीम जिय सारभार ॥
जिहि पकरि साह साहाब लीन ।
तिहुँ वेर करिय पानीप हीन ॥
सिंगिन सुसद्द गुन चढ़ि जंजीर ।
चुक्कै न सवद वेधत तीर ॥
बल वैन करन जिमि दान पान ।
सत सहस सील हरिचंद समान ॥
साहस सुक्रम्म विक्रम जु वीर ।
दानव सुमन्त अवतार धीर ॥
दिस च्यार जानि सब कला भूप ।
कन्द्रप्प जानि अवतार रूप ॥

चन्द कवि का नारी-रूप-वर्णन भी परवर्ती कवियों के नायिका-सौन्दर्य-वर्णन से सर्वथा भिन्न है। चन्द ने कल्पित नायिकाओं का नहीं, राज-कन्याओं का रूप-वर्णन किया है। अतएव उनके वर्णन में एक गौरव, एक मर्यादा का भाव विद्यमान है। यह सच है कि उनके वर्णन से हृदय में किसी प्रकार का चित्र उदित नहीं होता। पर उससे क्षत्रिय-ललनाओं के रूप का आभास अवश्य मिल जाता है—

मनहुं कला ससिमान कला सोलह सो बन्निय ।
बाल वेस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय ।
बिगसि कमल मृग भ्रमर बैन खंजन मृग लुट्टिय ।
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नख शिख अहि घुट्टिय ।

छत्रपति गयन्द हरि हंस गति विह बनाय संचैं संचिय।
पद्मिनिय रूप पद्मावतिय मनहुँ काम कामिनि रचिय॥

बालिकाओं की क्रीड़ा-सुलभ चञ्चलता, कौतूहल और विनोद-प्रियता को चन्द ने निम्नलिखित पद्य में मूर्तिमान् कर दिया है--

मन अति भयो हुलास विगसि जनु कोक किरन रवि।
अरुन अधर तिय सधर विम्ब फल जानि कीर छवि॥
यह चाहत चख चकृत उह जु तक्किय झरप्पि झर।
चंच चहुट्टिय लोभ लियौ तब गहित अप्प कर॥
हरषत अनन्द मन माँह हुलस लै जु महल भीतर गई।
पंजर अनूप नग मनि जटित सो तिहिं महँ रष्षत भई॥

अब युद्ध-भूमि का एक दृश्य देख लीजिए। रणोल्लास का कदाचित् इससे अच्छा चित्र हिन्दी साहित्य में अन्यत्र नहीं है—

बज्जिय घोर निसान रान चहु आन चिहौ दिस।
सकल सूर सामन्त समरि बल जंत्र मंत्र तस।
उट्ठिराज पृथिराज बाग लग मनो वीर नट।
कढ़त तेग मनो वेग लगत मनो वीज झट्ट घट।
थकि रहे सूर कौतिग जगन रगन मगन भई श्रोन धर।
हर हरषि वीर जग्गे हुलस हुरव रङ्गि नव रत्त वर॥

चन्द कवि की यही विशेषता है। उनकी कृति में एक प्रकार का विजय-दर्प, विजयोल्लास है। पृथ्वीराज का पतन अवश्य हो गया। पर उस पतन में भी एक गौरव है। विजय हो या पराजय, इसको चिन्ता क्षत्रियों ने कभी नहीं की। उन्होंने अपने गौरव को सदैव अक्षुण्य रखा, उन्होंने आत्म-पराभव कभी स्वीकार नहीं किया। इसीसे अन्त में भी कवि ने अपना विजयोल्लास ही प्रकट किया है--

नैन बिना नरवात कहौ एसी कहुं किद्धी ।
हिन्दू तुरुक अनेक हुए पै सिद्ध न सिद्धी ।
धनि साहस धनि हथ्थ धन्य जस वासनि पायो ।
ज्यों तरु छुट्टै पत्र उड़त अय सतियो आयो ।
दिख्खैं सुसथ्थ यौं साह कौ मनु नछित्र नभतें टर्‌यो ।
गोरी नरिन्द कविचन्द कहि आय धरप्पर धमपर्‌यो ।

चन्द कवि के बाद हिन्दी में वीर गाथाओं के लिए उन्हीं की भाषा और शैली को चारणों ने अपना लिया । नल्लसिंह नामक एक कवि ने विजयपाल रासो नामक ग्रन्थ की रचना की है । उसकी रचना का नमूना यह है—

दश शत वर्ष निदान मास फागुन गुरु ग्यारसि ।
पाय सिद्ध वरदान तेग जद्दव कर धारसि ।
जीति सर्व तुरकान बलख खुरसान सुगजनिप ।
रूम स्याम इसपहाँ फङ्ग हवसान सुभजनिप ।
ईराण तोरि तूराण असि खौसिर बंग खंधार सव
बल बड पिंड हिंदुवान हद चढ़िव बीर विजयपाल तब ।

अर्थात् संवत् १००० के फाल्गुन की एकादशी गुरुवार को सिद्धि का वरदान पाकर यादव ने अपने हाथों में तलवार ग्रहण की । सब तुर्कों को जीत कर वलख, खुरासान, गज़नी, रूम, स्याम, इस्फ़हान, फिरंगियों का देश और हबशियों का देश उन्होंने नष्ट कर दिया । ईरान को तोड़कर कौथल कंधार और बंगाल को हरा कर हिन्दू जाति की मर्यादा रखने वाले वली विजयपाल ने चढ़ाई की ।

भारतवर्ष में एक ओर राजपूत चारणों के द्वारा वीर-गाथाओं का निर्माण हो रहा था और दूसरी ओर सर्वसाधारण की भाषा में लौकिक साहित्य की सृष्टि हो रही

थी। उसमें संयोग और वियोग तथा अनुराग और विराग की बातें थीं। हिन्दू-साम्राज्य तो छिन्न-भिन्न हो गया था और भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य भी हो गया था। समराग्नि की ज्वाला में वीरों की आहुति हो रही थी। तो भी भारतवर्ष के ग्राम्य-जीवन में परिवर्तन नहीं हुआ। देश के एक कोने में युद्ध होरहा है तो दूसरी ओर शान्ति की धारा भी बह रही है। उसी ग्राम्य-जीवन में हिन्दुओं और मुसलमानों का सम्मिलन भी होने लगा। फारसी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो ने भारत की उसी लौकिक भाषा और लौकिक साहित्य के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसमें कुछ कवितायें लिखीं।

खुसरो रैन सुहाग की जागी पिय के संग।
तन मेरो मन पीय के भये दोऊ एक रंग॥
श्याम सेत गोरी लिये जनमत भई अनीत।
इक पल में फिर जात हैं जोगी काके मीत॥
गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देश॥

सर्वसाधारण में जीवन और मृत्यु, सुख और दुख का जो चिरन्तन प्रवाह बह रहा था उसी का आभास हमें इन पद्यों में मिल जाता है।

बहुत रही बाबुल घर दुलहन चल तोरे पी ने बुलाई।
बहुत खेल खेलो सखियन सों अन्त करी लरकाई।
न्हाय धोय के बस्तर पहिरे सभ्ही सिंगार बनाई।
विदा करन को कुटुम्ब सब आये सगरे लोग लुगाई।
चार कहार मिल डोली उठाये संग पुरोहित औ चले नाई।
चले ही बनेगी होत कहा है नैनन नीर बहाई।

अन्त विदा होय चलि हैं दुलहिन काहू की कछु न बसाई ।
मौज खुली सब देखत रहि गये मात पिता और भाई ।

इसी समय संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् विद्यापति ठाकुर ने प्रेम के माधुर्य से पूर्ण कोमल पदावली की रचनायें की ।

सरस बसन्त समय भल पाओलि दछिन पवन बहु धीरे ।
सपनहु रूप वचन यक भाषिय मुख सेंदुरि करु चीरे ।
तोहर वदन सम चांद होऊथि नहिं जैयो जतन विहदेला ।
कै बैरि काटि बनावल नक्कय तैंयो तुलित नहीं भेला ।
लोचन तूअ कमल नहिं भेसक से जग के नहिं जाने ।
से फिर जाय लुकै नह जल भय पंकज निज अपमाने ।
भनति विद्यापति सुन वरजौ मति ईसे लछमी समाने ।
राजा शिवसिंह रूप नरायण लखिमा दइ प्रतिमाने ।

अर्थात्, वसन्त का सरस समय है । दक्षिण पवन मन्द मन्द बह रही है । तुम अपने मुख से घूँघट दूर करो । तुम्हारे मुख के बराबर चन्द्रमा है नहीं । ब्रह्मा ने खूब प्रयास किया, काट छांट कर उसे कई बार नये नये रूप दिये । परन्तु वह तुम्हारे मुख की समता नहीं कर सकता । तुम्हारे नैनों की तुलना कमल नहीं कर सकता । इसी अपमान से लज्जित होकर ब्रह्मा कमल में जा छिपा है । सरस भाव और सरल उपमा यही लौकिक सहित्य की विशेषता है ।

तृतीय परिच्छेद

(१)

जिन महापुरुषों की वाणी आज संसार में अमर है उन्होंने मनुष्य के मानसिक भावों की रक्षा कर कोई बात कहने की चेष्टा नहीं की है। वे जानते थे कि मनुष्य अपने मन से कहीं बड़ा है अर्थात् मनुष्य अपने मन में अपने को जैसा समझता है उसीमें उसकी समाप्ति नहीं है। इसलिये उन्होंने मनुष्य के राज-दरबार में अपना दूत भेजा, द्वार पर द्वारपाल को ही मधुर बातों से सन्तुष्ट कर उद्धार का सरल उपाय खोजनेकी चेष्टा व्यर्थ नहीं की। उन्होंने जैसी बातें कही हैं वैसी बातें कहने का साहस कोई नहीं कर सकता। संसार के कार्यों में व्यस्त मनुष्य उन्हें सुनकर विरक्त हो जाता है। वह उन्हें अपने काम की बात नहीं मानता। परन्तु काम की बड़ी बड़ी बातें तो काल-स्रोत में बुद्बुद् की तरह उठतीं और

लीन हो जाती हैं और वे बातें जिनसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है; अभावनीय भी सत्य हो जाता है, बुद्धिमानों की युक्ति-युक्त बातें न होने पर भी, पागलों का प्रलाप-मात्र होने पर भी, मनुष्यों के हृदय पर अपना अक्षय प्रभाव छोड़ जाती हैं। मनुष्य जितना ही अधिक उनका तिरस्कार करता है, उतना ही अधिक उनका प्रभाव बढ़ता है। यदि वह उन्हें नष्ट करने की चेष्टा करता है तो वे अमर होजाती हैं। देखते ही देखते वे मनुष्य के अन्तर्जगत और बाह्य-जगत दोनों पर अधिकार जमा लेती हैं। वे मनुष्यों को एक ऐसे रङ्ग में रँग देती हैं जो फिर छूटने का नहीं।

सतगुरु है रँगरेज, चुनर मेरी रँगिडारी॥
स्याही रङ्ग छुड़ाइ के रे, दियो मजीठा रङ्ग
धोये से छूटै नहीं, दिन–दिन होत सुरङ्ग
भाव के कुण्ड नेह के जल में, प्रेम रँग दइ बोर
चसकी चास लगाइ के रे, खूब रँगी झक झोर॥

मनुष्य जिसे असाध्य समझता है उसीको साध्य करने के लिये महापुरुष उपदेश देते हैं। जब मनुष्य किसी स्थान में जाकर रुक जाता है और समझता है कि यही उसका परम आश्रय है और उसको शास्त्रों की मर्यादा से परिमित कर सनातन-रूप देने की चेष्टा करता है तभी महापुरुष आकर उसकी मर्यादा को तोड़ देते हैं और कहते हैं कि अभी तुम्हारे जीवनपथ का अन्त नहीं हुआ है, यहां ठहरना मूर्खता है। जो अमृत-भवन तुम्हारा यथार्थ निवास–स्थान है वह तुम्हारे इन कारीगरों का बनाया हुआ नहीं है। इनका बनाया घर तुम्हें बन्द रखता है। यह घर नहीं क़ैदख़ाना है। तुम्हारा भवन वह है जो परिवर्तित होता है परन्तु टूटता नहीं, जो

आश्रय देता है पर तुम्हें बन्द नहीं रखता, जो निर्मित नही होता किन्तु स्वयं विकसित होता है, जो शास्त्रों के शब्द-कौशल की सृष्टि नहीं है किन्तु अक्षय जीवन की अनन्त सृष्टि है। उनसे मनुष्य कहता है कि यह पथ-यात्रा हमारे लिये असाध्य है, क्योंकि हम दुर्बल हैं और क्रान्त हैं। हम यहीं स्थिर हो कर रहना चाहते हैं। तब वे बतलाते हैं कि यहाँ स्थिर होकर रहना, यही तुम्हारे लिये असाध्य है क्योंकि तुम मनुष्य हो, तुम महत् हो, तुम अमृत के पुत्र हो।

जो व्यक्ति छोटे होते हैं वे संसार को असंख्य बाधाओं का क्षेत्र मानते हैं। वे बाधायें उनकी दृष्टि को संकुचित और उनकी समस्त आशाओं को नष्ट कर डालती हैं। इसीलिये वे सत्य को नहीं जान सकते और वे बाधायें ही उनके लिये सत्य हो जातीं हैं। किन्तु जो महापुरुष होते हैं वे समस्त बाधाओं को हटा कर सत्य को देख लेते हैं। इसीलिये इन दोनों के कथन में बड़ा वैपरीत्य है।

संसार में हम देखते हैं कि अधिकांश लोग यही समझते हैं कि अधर्म से ही हमारे जीवन की रक्षा हो सकती है। अपनी इसी धारणा के वशीभूत हो लोग कितनी ही कुटिल नीतियों का अनुसरण कर सदैव एक दूसरे को पराभूत करने की चेष्टा करते हैं।

इन महात्माओं के अनुशासनों को भी सुनना असम्भव है। संसार में जो लोग जैसे हैं उनको उसी प्रकार देखना, यही बड़ा कठिन है। किन्तु ये यहीं नहीं रुक जाते हैं। ये कहते हैं–सब को अपने समान देखो। इसका कारण यह है कि जहाँ आत्म-पर का भेद है वहाँ उनकी दृष्टि नहीं जाती; किन्तु जहाँ दोनों का मेल है वहीं वे विहार करते हैं। शत्रु को क्षमा करना

यही उपदेश संसार के लिये यथेष्ट है। किन्तु वे यह उपदेश न देकर कहते हैं कि शत्रु को भी प्यार करो। जैसे चन्दन का वृक्ष काटनेवाले को सुगन्धि देता है उसी प्रकार तुम भी शत्रु को अपना प्रेम दो। प्रेम में उन्होंने सत्य को पूर्ण रूप से देखा था। प्रेम के लिये वे सर्वस्व का त्याग करने की शिक्षा पहले देते हैं। प्रेम का यह पथ साधारण नहीं विकट है।

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब बैठे घर माहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव।

मनुष्यों के लिये यह कहना छोटी बात नहीं है कि तुम बड़े हो, अच्छे हो। पर उनका कथन यहीं समाप्त नहीं होता। वे कहते हैं-शरवत् तन्मयो भवेत्। जैसे शर लक्ष्य में बिलकुल प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार तुम तन्मय होकर ब्रह्म में प्रवेश करो। ब्रह्म ही परिपूर्ण सत्य है और उसीको पूर्ण भाव से प्राप्त करना होगा। वे स्पष्ट कह देते हैं कि बिना उसको जाने जो मनुष्य केवल जप तप में ही अपना समय व्यतीत करता है वह विनष्ट हो जाता है। उसको बिना जाने हुए जो इस लोक से अपसृत होता है वह कृपण है, वह दया का पात्र है।

एक नाम को जानि करि, दूजा देइ बहाय।
तीरथ व्रत जप तप नहीं, सतगुरु चरन समाय॥

महापुरुष उसी स्थान की बात कहते हैं जो सबका चरम है। किसी प्रयोजन के वशीभूत हो वे सत्य को विकृत नहीं करते। उसी परम लक्ष्य को सब सत्यों का परम सत्य स्वीकार करना होगा; नहीं तो मनुष्य आत्म-अविश्वासी और

भीरु होगा। बाधा की दूसरी ओर, उसका अतिक्रमण कर, जो सत्य है उसको परम लक्ष्य न मानकर बाधाओं के ऊपर ही यदि ध्यान रक्खा गया तो मनुष्य उन बाधाओं से ही मिलाप करने की चेष्टा करेगा और सत्य को अपनी सीमा से बाहर समझेगा। परन्तु सन्तों ने असाध्य-साधन को ही परम लाभ कहा है और उसीको मनुष्य-धर्म बतलाया है। वही मनुष्य का पूर्ण स्वभाव है और वही सत्य है।

अच्छा, उस सत्य की खोज कहाँ की जाय और उसके लिये किन साधनों की आवश्यकता है? संसार सान्त है और वह सत्य अनन्त है। तब क्या वह यहाँ पाया जा सकता है? वह क्या हमारे लिए असाध्य नहीं है? इसी धारणा के कारण जब मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिये व्याकुल हो जाता है तब वह संसार को छोड़कर भटकता रहता है। पर उस अनन्त की प्राप्ति उसे नहीं होती। सद्गुरू उसकी इस मूढ़ता को देख कर कहते हैं—तू कहाँ भटकता फिरता है—

कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूंढ़ै बन माहिं।
ऐसे घट में पीव है, दुनिया जानै नाहिं॥
तेरा साईं तुझमें, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिरि-फिरि ढूंढ़ै घास॥
ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुझ में, जागि सके तो जागि॥

पन्तु यह ज्ञान सद्गुरू के बिना दूसरा कौन दे सकता है? इसीलिये सन्तों की वाणी में सद्गुरू की बड़ी महिमा गायी गयी है। यह हिन्दी-साहित्य का सौभाग्य है कि उसके जीवन के प्रारम्भिक काल में ऐसे अनेक सन्त हुए जिनके वचनामृत का पान कर संसार तृप्त हो सकता है।

धर्म साहित्य का उपादान है। बिना धर्म के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। पृथ्वी के सभी देशों के साहित्य की नींव धर्म है। साहित्य की पुष्टि और विस्मृति अज्ञेयवाद और आध्यात्मिकवाद से होती है। विलासिता और जड़वाद का प्राबल्य होने से साहित्य की अवनति होती है। भारतवर्ष में एक हज़ार वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्राबल्य रहा। बौद्ध धर्म का आविर्भाव दुःखवाद में हुआ है। संसार दुःखमय है, क्योंकि वह जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि से ग्रस्त है। संसार में मुक्ति पाने का उपाय बतलाने के लिए संन्यास का पथ श्रेयस्कर माना गया। जब बौद्ध मत शून्यवाद में परिणत हुआ तब लोगों के चित्त में केवल संशयावस्था थी। बौद्ध-सङ्घों में अनाचार फैलने लगा। सर्वसाधारण भी सदाचार की अवहेलना करने लगे। धर्म के तत्व रहस्यमय हो गये। दार्शनिक विद्वान शुष्क तर्कजाल में पड़ गये। भगवान शङ्कराचार्य ने हिन्दू समाज का पुनरुद्धार किया। उनका मत मायावाद पर अवलम्बित है। यति-धर्म और संन्यास मार्ग पर उन्हों ने भी ज़ोर दिया। उनके अद्वैतवाद का प्रभाव समग्र हिन्दू-साहित्य पर पड़ा। उसी समय भिन्न भिन्न स्मृतियों की भी रचना हुई। इस प्रकार नव हिन्दू धर्म की सभी व्यवस्थायें संस्कृत-भाषा में लिपिबद्ध हुईं। जनसाधारण से उनका ज़रा भी सम्पर्क न था। वहां तक उनका प्रवेश नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक कृत्यों के आडम्बर में सदाचार का लोप होगया। स्नाति धर्म के प्रभाव से कृत्रिम आचार-व्यवहारों की बड़ी प्रबलता हो गई। जाति भेद खूब बढ़ गया। उच्च-नीच का बहुत ख्याल रक्खा जाता था। इसी समय मुसल्मानों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। मुसल्मानों के कारण यह भेद-भाव और भी बढ़ गया। विद्वानों की

मनस्तुष्टि के लिए स्मृति, न्याय और दर्शनशास्त्र की जटिल समस्यायें थीं। पर उनसे सर्वसाधारण को सन्तोष नहीं हो सकता था। उन्हें तो लौकिक साहित्य की आवश्यकता थी। मुसल्मानों के आगमन के कोई दो सौ साल बाद प्रचलित भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण होने लगा। यह साहित्य वैष्णव धर्म के आन्दोलन का परिणाम था। जब हिन्दी में धार्मिक भाव प्रकट होने लगे तब पण्डितों ने उसका खूब विरोध किया। संस्कृत भाषा विद्वानों की भाषा थी। हिन्दी-साहित्य को जनता ने तो अपनाया पर विद्वानों ने उसको सदैव तिरस्कार की दृष्टि से देखा। 'भाषा' के प्रति सदैव उनका अवज्ञा का ही भाव था। परन्तु विद्वानों से अनादृत होने पर भी हिन्दी-साहित्य का प्रचार बढ़ने लगा। इसका एक मात्र कारण वैष्णव धर्म का प्रभाव था। रामानुज के समय से रामानन्द के समय तक वैष्णव सम्प्रदाय में उच्च वर्ण के ही लोग दीक्षा ग्रहण करते थे और उन्हें ही दीक्षा देने का अधिकार था। परन्तु रामानन्द ने सर्वसाधारण के लिए धर्म का पथ प्रशस्त कर दिया। धर्म केवल ब्राह्मण और क्षत्रियों की ही साधना का विषय नहीं रहा। रामानन्द की कृपा से जुलाहे, मोची और डोम भी उसकी साधना में निरत होने लगे। रामानन्द के ऐसे शिष्यों में कबीर प्रधान थे। कबीर ने भी अपना सम्प्रदाय चलाया। उनका धर्म-मत बहुत उदार है। उसमें ज़रा भी सङ्कीर्णता नहीं है। आचार-व्यवहार की कृत्रिमता और पूजा के आडम्बर को उन्होंने सर्वथा त्याज्य समझा। निर्गुण की उपासना प्रारम्भ हुई। निराकार वादी इन साधकों की उपासना शास्त्रों के अनुशासन से मुक्त थी, पर भाव और सौन्दर्य-प्रेम से पूर्ण थी।

भारतीय साहित्य में सर्वत्र त्याग की ही महिमा वर्णित

है। यह त्याग अपने जीवन को रिक्त करने के लिए नहीं किया जाता किन्तु उसको पूर्ण करने के लिए। प्रेम की चरम सीमा त्याग में है। धर्म की भी अन्तिम अवधि त्याग है। इसी कारण दुःख का दमन नहीं किया गया है किन्तु दुःख को अङ्गीकार कर उसे सुख का रूप दिया गया है। जो संग्रह करना चाहता है वह मानो अपने अधिकार की सीमा को संकुचित करता है। विश्व से अपना सम्बन्ध छोड़कर वह एक क्षुद्र सीमा में निवास करता है। परन्तु त्याग से वह विश्व को अपना कर लेता है। तब उसका जीवन कम नहीं होता, किन्तु पूर्ण हो जाता है। जल-विन्दु तभी तक क्षुद्र है जब तक वह अपने को पृथक रखता है किन्तु ज्यों ही वह अपने को अनन्त समुद्र में त्याग देता है त्योंही वह स्वयं अनन्त हो जाता है। जब लोग विश्व-बोध की इस भावना को भूल रहे थे तब कबीर को इसीकी चेतावनी देनी पड़ी—

सम्पुट माँहि समाइया सो साहिब नहिं होय।
सकल भांड में रमि रहा मेरा साहिब सोय॥

यथार्थ बात यह है कि सत्य का स्वरूप चिरन्तन है। हिन्दी-साहित्य में साधकों ने अपने जीवन में उसी सत्य का अनुभव कर उसे प्रकट किया है। उन्होंने मनुष्य-जीवन में ही सत्य का पूर्ण रूप दिखलाने का प्रयास किया है। इन साधकों ने यह सन्देश उस समय में दिया जब सत्य अनुभूति का विषय न होकर तर्क का विषय हो गया था। विद्वान सत्य को ग्रन्थों में खोजते थे; मानव जीवन में नहीं तर्क और विवाद से सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। सत्य के धाम का मार्ग एक मात्र अनुभूति है।

कबीर का घर सिखर पर जहां रटपटी गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका, पण्डित लादे बैल।

वैष्णव साधकों ने मिथ्या आडम्बर को धर्म नहीं समझा। उन्होंने जीवन में ही सत्य की उपलब्धि का उपदेश दिया।

(२)

हिन्दी के आदि काल में जितने सन्तों ने अपने उपदेशों को पद्य-बद्ध किया है उनमें कबीर सबसे प्रधान हैं। उनका जन्म उस काल में हुआ था जब ब्राह्मण-धर्म से भारत में आन्दोलन हो रहा था। हिन्दू-समाज में धर्म की जो कृत्रिम मर्यादा बना दी गई थी उसके कारण समाज बड़ा संकुचित हो गया था। धर्म केवल स्मृति-शास्त्र का अनुशासन-मात्र था और सदाचार आडम्बर। कबीर नीच कुलोत्पन्न थे। अतएव उन्हें कोई भी ब्राह्मण धर्म का उपदेष्टा नहीं स्वीकार करता था। कबीर तत्कालीन प्रचलित भाषा में धर्मोपदेश किया करते थे और उस समय धर्म के सभी अनुशासन संस्कृत भाषा में निबद्ध थे। कबीर ने ब्राह्मणों के इस धर्माधिकार पर और संस्कृत के एकाधिपत्य पर सदैव आक्षेप किया है।

संस्कृतहिं पण्डित कहैं बहुत करैं अभिमान।
भाषा जानि तरक करै ते नर मूढ़ अजान।
कलि का बाम्हन मसखरा ताहि न दीजै दान।
कुटुम्ब सहित नरकै चला साथ लिया जजमान।
पण्डित और मसालची दोनों सूझैं नाहिं।
औरन को करें चाँदना आप अँधेरे माँहिं।

विरोधियों ने कबीर के नीच कुल पर अवश्य आक्षेप किया होगा। परन्तु कबीर ने बड़े गर्व से अपने कुल का उल्लेख किया है:—

तू बाम्हन मैं कासी क जुलहा, बूझौ मोर गियाना।

एक दूसरी जगह उन्होंने कहा है—

कासी का मैं बासी बाम्हन नाम मेरा परबीना।
एक बार हरिनाम बिसारा पकर जुलाहा कीन्हा।

कबीर सन्त थे। उन्हें अपने सन्देश पर दृढ़ विश्वास था।

काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये।
समरथ का परवाना लाये हंस उबारन आये।

सन्तों का अन्तःकरण पवित्र होता है। पवित्रात्मा में ज्ञान की ज्योति स्वयं झलक जाती है। यह ज्ञान साधना का फल है, विद्या का नहीं। अतएव कबीर ने कहा है—

मसि कागद छूवौं नहीं, कलम गहौं नहिं हाथ।
चारउ जुग का महातम कबिरा मुखहि जनाई बात।

जिन्हें अनुभूति नहीं, जो केवल पुस्तकस्था विद्या के ज्ञाता हैं वे धर्म का सूक्ष्म रहस्य जान नहीं सकते। इसीसे कबीर ने कहा है—

मेरा तेरा मनुवा कैसे एक होय रे।

मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यो अरुझाइ रे।
मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोइ रे।
मैं कहता निरमोही रहियो, तू जाता है मोहि रे।

जुगन जुगन समझावत हारा, कहा न मानत कोइ रे।
तू तो रंगी फिरै बिहङ्गी, सब धन डारा खोइ रे।
सतगुरु धारा निर्मल बाहै, वामें काया धोइ रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो तब ही वैसा होइ रे।

हमारी जीवन-यात्रा का अन्त कहाँ होगा? हम जा कहां रहे हैं? जिन्हें उस स्थान का मार्ग नहीं मालूम, जो उस स्थान का नाम तक नहीं जानते वे जीवन भर भटकते ही रहेंगे। सच पूछो तो हम लोगों का यह परम धाम हमसे दूर नहीं, बिलकुल समीप है। यदि सत्गुरु की कृपा हो जाय तो हम लोग पल भर में ही वहाँ पहुँच सकते हैं। पर कितने ही लोग चलते चलते थक जाते हैं, पर उनका अभीष्ट स्थान उनसे दूर ही रहता है—

नाँव न जानौं गाँव का बिन जाने कित जाँव।
चलता चलता जुग भया पाव कोस पर गाँव॥
सतगुरु दीनदयाल हैं दया करी मोहिं आय।
कोटि जनम का पंथ था पल में पहुँचा जाय।
चलते चलते पगु थके नगर रहा नौ कोस।
बीचहि में डेरा रह्यो कहो कौन का दोष॥

पर इसके लिए सब से पहले सत्य की ही आराधना करनी होगी—

साँचे सौदा कीजिए अपने दिल में जानि।
सांचे हीरा पाइए झूठे मूरो हानि॥

यदि तुम अपने जीवन का मूल-धन ही नष्ट कर देना चाहते हो तो मिथ्या का प्रश्रय लो। सच तो यह है—

साँच बरोबर तप नहीं झूठ बरोबर पाप।
जाके भीतर साँच है ताके भीतर आप।

अर्थात् सत्य ही सबसे बड़ी तपस्या है। जिसके हृदय में सत्य है वहीं ईश्वर निवास करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि—

साँचे स्राप न लागिया साँचे काल न खाइ।
साँचे साँचा जो चले ताकी काह नसाइ।

सत्य ही एक-मात्र श्रेयस्कर है। सत्य में नाश कहाँ। सत्य के साथ निष्काम भाव भी होना चाहिए—

जौ तू चाहे मुझको छाँड़ि देहु सब आस।
मुझही ऐसा होय रहो सब कुछ तेरे पास।

निस्पृह हो जाने से, निष्काम होने से ही, हमें किसी भी वस्तु का अभाव ही नहीं रह जायगा। पर मुश्किल यह है—

कहता तो बहुते मिला गहता मिला न कोइ।
सो कहता वहि जान दे जो ना गहता होइ।

अर्थात् कहनेवाले तो कितने ही हैं पर ग्रहण करने वाला कोई एक ही होता है। उपदेश देकर तदनुसार कार्य करनेवाले कुछ ही लोग होते हैं। जो केवल उपदेष्टा मात्र हैं उनकी बातों का मूल्य ही क्या है। ऐसे उपदेशकों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

जाके जिह्वा बन्धन नाहीं हृदया नाहीं सांच।
वाके संग न लागिये घाले वहिया कांच।

अर्थात् जिनके हृदय में न तो सत्य है और न जिनमें संयम ही है उनके साथ कभी नहीं जाना चाहिए। इनकी विद्या किसी काम की नहीं। इनका कच्चा बांट है। तब क्रिया क्या जाय।

काल खड़ा सिर ऊपरै जागु विराने मीत।
जाको घर है गैल मों सो क्या सोवै निश्चीत।

सिर पर काल खड़ा है। हम तो अभी बीच में ही—मार्ग में ही पड़े हैं। हम भला निश्चिन्त कैसे रह सकते हैं। शरीर नश्वर है। प्रतिदिन वह क्षीण ही होता जा रहा है—

काला काठी काल घुन यत्न यत्न सों खाय।
काया मध्ये काल बस मर्म न कोऊ पाय।

अर्थात् इस शरीर रूपी लकड़ी को काल रूपी घुन खा रहा है। शरीर में ही तो काल का निवास है और हम उसीकी रक्षा किया चाहते हैं।

मन सागर मन्सा लहर बूड़े बहे अनेक।
कहे कबीर ते बाँचि हैं जिनके हृदय विवेक।

अर्थात् हृदय में वासनाओं की तरंगे लहरा रही हैं। कितने ही इसमें नष्ट हो गये हैं। जिनमें विवेक है वही बच सकते हैं।

मनुष जन्म दुर्लभ अहै होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिरि परै बहुरि न लागै डार।

अर्थात् मानव-जीवन दुर्लभ है। एक बार इसका पतन हुआ तो फिर उद्धार होना नहीं है। इसलिए हमें मन, वचन और कर्म तीनों से संयम कर चलना चाहिए। वचन का भी महत्व है। कटु वचन कहने से भी हिंसा होती है—

साधु भये तो क्या भये जो नहिं बोले विचार।
हते पराया आत्मा जीभ लिये तरवार।

अर्थात् कटु वचन बोलने वाला अपनी जीभ रूपी

तलवार से दूसरों की हिंसा करता है। छोटा काम या छोटा विचार समझ कर हमें उनकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए।

घुंघूची सर में बोये उपजे पसेरी आठ ।
डेरा परा काल का साँझ सकारे बाट ।

इन छोटे छोटे विचारों और कर्मों का फल, प्रभाव, जीवन पर चिरस्थायी होता है। इसलिए इनके सम्बन्ध में हमें विशेष सावधान रहना चाहिए। यही मुक्ति का मार्ग है।

तौंहिं मारग नग परा कोटि कल्प का हीर।
जेहि मारग में नग परा सों कैसे तजहु कबीर ॥

मन, वचन और कर्म के निग्रह से हमने यह रत्न प्राप्त किया है। जिस मार्ग से हमें यह रत्न मिला उसे हमें छोड़ना नहीं चाहिए। यह कौन रत्न है—

वे हीरा जनि जानहू जो लादतु बनजार ।
ई हीरा है मुक्ति का खोवै जात गंमार।

इसीलिए—

करना है सो करले जोरा पहुँचा आय ।
आगि जो लागी द्वार में तब किछु काढ़ि न जाय।

अर्थात् जो कुछ करना है, कर ले, क्योंकि मजदूरी पाने का समय आ गया है। जब घर में आग लग जायगी तब कुछ निकाला नहीं जायगा।

भला चहहु तो चेतहू आइ लगी है नाव।
बार बार पछताहुगे बहुरि न ऐसी दाँव।

यदि भला चाहते हो तो अब भी सावधान हो जाव। नाव लगी है। फिर ऐसा मौका नहीं मिलेगा। फिर सदैव पश्चाताप करना पड़ेगा।

शब्द सँभारे बोलिए शब्द के हाथ न पाव।
एक शब्द करै औषधि एक शब्द करै घाव।

शब्दों को खूब सम्हालकर कहा करो। उसके हाथ पैर नहीं होते, पर एक से चोट पहुँचती है और दूसरे से हृदय शीतल होता है।

पूरा साहेब सेइए पूरा होइके आइ।
पूरा के पूरा मिले पूरा पुरही लखाइ।

सेवक को मन, वचन, कर्म से पूर्ण होकर उस पूर्ण की सेवा करनी चाहिए। पूर्ण को ही पूर्ण मिलेगा।

क्षमा शील जब ऊपजै अलख दृष्टि तब होइ।
बिना शील उपजै नहीं कोटि कथै जो कोइ।

उस अलक्ष्य को देखने के लिए हृदय में क्षमा और शील चाहिए।

शील रत्न सब ते बड़े सब रतन की खान।
तीन लोक की सम्पदा बसी शील में आन।

सब रत्नों में शील-रत्न ही श्रेष्ठ है। उसी में त्रिभुवन की सम्पत्ति है।

जहँ आपा तहँ आपदा जहाँ लोभ तहँ पाप।
जहाँ दया तहँ दृढ़ता जहाँ क्षमा तहँ आप।

जहाँ अहङ्कार है वहाँ आपत्ति है, जहाँ लोभ है वहाँ पाप है, जहाँ दया है वहाँ दृढ़ता है और जहाँ क्षमा है वहां स्वयं जगदीश्वर है।

मन सब पर असवार है मनका पेड़ अनेक।
जो मन पर असवार है सो कोइ विरला एक।

मन को वशीभूत करना ही चाहिए। पर यह काम

साधारण नहीं। सच तो यह है कि मन के ही वश में सब लोग हैं। पर भगवान् का आश्रय लेने से सभी सम्भव है।

मैं अपराधी जनम का नख सिख भरा विकार।
तुम दाता दुख भञ्जना मेरो करो उबार।

अर्थात् हम जन्म के अपराधी हैं, नख से शिखर तक हममें दोष है। पर तुम दुःखों को नष्ट करने वाले हो। तुम्हीं उद्धार करो।

मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागे है मोर।

इसके लिए हमको भगवान के चरणों में सर्वस्व-समर्पण कर देना चाहिए। जो कुछ है सब उसी का है। अतएव उसी की वस्तु उसी को सौंप देने में हमारी हानि ही क्या है। यह सर्वस्व-समर्पण कठिन नहीं है। प्रेम से ही यह सम्भव है। प्रेम से ही जगदीश्वर प्रसन्न हो जाते हैं।

नैनों की करि कोठरी पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के पिय को लिया रिझाय॥
जल में बसै कमोदिनी चन्दा बसै अकास।
जो है जाको भावता सो ताही के पास॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पण्डित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय॥

यही सहज साधन है। यही सरल पथ है। प्रेम से ही अमृत-तत्व की प्राप्ति होती है, प्रेम से ही ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है, प्रेम से ही हृदय में अपने और पराए का भेद नहीं रहजाता। कबीर इसी प्रेम में तन्मय हैं, प्रेम की अजस्र धारा में निरन्तर भींग रहे हैं—

गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गंभीर ।
चहुंदिसि दमकै दामिनी भीजैं दास कबीर ॥

परन्तु संसार मिथ्या आडम्बर में पड़ा हुआ है। उसे कुछ ज्ञान नहीं है। कबीरदासजी बार बार यही कह रहे हैं — कब तक तुम अज्ञान में पड़े रहोगे। इसी अज्ञान में पड़कर तुम अपना सर्वस्व खो बैठे। इस से अधिक और क्या पागलपन है। कहां है तुम्हारा प्रियतम। वह तो न जाने कब से तुम्हें छोड़ कर चलागया है। तुम्हें तो इसकी खबर तक नहीं है। पर तुम जागोगे कैसे ? तुम्हारे हृदय पर इन शब्दों का कुछ प्रभाव भी पड़ता है क्या ?

जाग पियारी अब का सोवै ।
रैन गई दिन काहे को खोवै ॥
जिन जागा तिन मानिक पाया ।
तैं बौरी सब सोय गंवाया ॥
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी ।
कबहु न पिय की सेज संवारी ॥
हौ बौरी बौरा पन कीन्हो ।
भर जोबन अपना नहिं चीन्हो ॥
जाग देख पिय सेजन तेरे ।
तोहि छाँड़ि उठि गये सवेरे ॥
कहैं कबीर सोई जन जागै ।
सबद बान उर अन्तर लागै ॥

शब्दों की भी शक्ति कितनी विलक्षण है। जो इसे जानते हैं वे शब्दों की ही साधना में निरत रहते हैं—

साधो शब्द साधना कीजै ।
जासु शब्द ते प्रगट भए सब शब्द सोई गहि लीजै ।

शब्दहिं गुरू शब्द सुनि सिख ये शब्द सो विरला बूझै।
सोई शिष्य औ गुरु महातम जेहि अन्तरगत सूझै।
शब्दै वेद पुरान कहत हैं शब्दै सब ठहरावै।
शब्दै सुर मुनिसंत कहत हैं शब्द भेद नहिं पावै॥
शब्दै सुनि सुनि भेद धरत हैं शब्द कहै अनुरागी।
षट् दरसन सब शब्द कहत हैं शब्द कहै वैरागी॥
शब्दै माया जग उतपानी शब्दै करे पसारा।
कह कबीर जहं शब्द होत है तवन भेद है न्यारा।

उस न्यारे भेद को जानने के लिए हमें गुरु–सद्गुरु—का आश्रय लेना पड़ेगा।

चल सतगुरु की हाट ज्ञान बुध लाइए।
कर साहब स्यों हेत परम पद पाइए॥
सतगुरु सब कछु दीन देन कछु नहिं रह्यो।
हमहिं अभागिनि नारि छोरि सुख दुख लह्यो॥
गई पिया के महल हिया संग ना रची।
रह्यो कपट हिय छाय मान लज्जा भरी॥
जहां गेल सिजिहिली चढ़ौं गिरि गिरि परौं।
उठहुं सम्हारि सम्हारि चरण आगे धरौं॥
पिया मिलन की चाह कौन तेरे लाज है।
अरध मिलो किन जाय भला दिन आज है॥
भला बना संजोग प्रेम का चोलना।
तन मन अरपौं सीस साहब हंस बोलना॥
जो गुरु रूठे होंय तो तुरत मनाइए।
हुइए दीन अधीन चूकि बकसाइए॥
जो गुरु होय दयाल दया दिल हेरि हैं।
कोटि करम कटि जायँ पलक छिन फेरि हैं॥

कह कबीर समझाय समुझ हिरिदै धरो।
जुगन जुगन कर राज कुमति अस परिहरौ ॥

यही हम लोगों का परम पुरुषार्थ है। यही हम लोगों का एक मात्र लक्ष्य, एक मात्र ध्येय है। राह विकट है, परन्तु हमें तो आगे बढ़ना ही होगा। संकट का समय है, परन्तु दिन तो काटना ही पड़ेगा। उसी प्रियतम की स्मृति को अपने हृदय में—अपने अन्तस्तल में—स्थापित कर हम 'चिरशान्ति' पा सकेंगे। इस अनन्त, अपार यात्रा में वही हमें युक्ति बता सकता है, वही हमें राह दिखला सकता है।

कैसे दिन कटि हैं, जतन बताये जइयो।
एहि पार गंगा वोहि पार यमुना
बिचवा मड़इया हमको छवाये जइयो।
अंचरा फारि के कागद बनाइन
अपनी सुरतिया हियरे लिखाए जइयो।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
बहियां पकरि के रहिया बताये जइयो।

तुम्हारे हृदय पर तो मोह का आवरण पड़ा है। एक बार उस आवरण को हटाकर देखो तो सही। तुम्हारा प्रियतम कहीं दूर नहीं है। पार्थिव प्रलोभनों को दूर करो। यह तो व्यर्थ, आडम्बर मात्र है। इनसे हृदय को बिलकुल शून्य कर, एक बार ज्ञान का दीपक जलाओ तो सही। प्रियतम से भेंट होगी, सर्वत्र आनन्द छा जायगा, हृत्तन्त्री पर एक अपूर्व रागिनी बजने लगेगी।

घूंघट का पट खोल रे, तोहे पीव मिलेंगे।
घट घट में वह साँई रमता, कटुक वचन मत बोल रे।
धन जोबन को गरब न कीजै, झूठा पंचरङ्ग चोल रे।

सुन्न महल में दियना बारिलै, आसन सों मत डोल रे।
जोग जुगत सो रङ्गमहल में पिय पायो अनमोल रे।
कहत कबीर अनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।

यह क्षण भंगुर, नश्वर संसार, यही क्या हम लोगों का स्थान है? नहीं, भाई, यह हमारे रहने की जगह नहीं है। जो इसमें एक बार उलझ गया उसकी मृत्यु ही निश्चित है, जो इसमें एक बार भटक गया उसे फिर राह मिलने की नहीं। आग लगने पर वह वहीं जल कर मर जायगा। अब तो एक-मात्र आश्रय सद्गुरु है।

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है
यह संसार कांट की बाड़ी, उलझ पुलझ मर जाना है।
यह संसार झाड़ औ झाखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है।

यह देह भी तो एक तरह का वस्त्र है। पांच तत्त्वों और तीन गुणों से यह शरीर बना है। दस महीने में इसे विधाता ने बना कर तैयार किया है। अच्छे अच्छे लोग भी शरीर की परवाह न कर उसे नष्ट कर डालते हैं। कबीर दास ने इसकी अवहेलना कभी नहीं की। उन्हों ने बड़े यत्न से इसकी रक्षा की। अन्त तक इसे नष्ट न होने दिया।

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे के भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला, पिंगला ताना भरनी, सुख मन तार से बीनी चदरिया।
आठ कंवल दल चरखा डोले, पांच तत्त्व गुन तीनी चदरिया।
साँइ को सियत मास दस लागै, ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़े, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

देह तो दूसरे की वस्तु है। उस पर हमारी स्पृहा भी नहीं है। किसी न किसी दिन उसे छोड़ना ही पड़ेगा। देह ही क्यों, संसार से भी हमारा यही सम्बन्ध है। उसे छोड़ने में दुःख क्या। जो अज्ञ हैं उन्हीं के लिए यह सबसे अधिक दुःखद है।

सुगवा पिंजरवा छोरि भागा।
इस पिंजरे में दस दरवाजा दस दरवाजे किवरवा लागा।
अंखियन सेती नीर बहन लाग्यो अब कस नाहिं तू बोलत अभागा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो उड़गो हंस टूटि गयो तागा॥

पिंजड़े में पक्षी बन्द था। उस पिंजड़े में दस दस तो दरवाज़े थे। जब जिस दरवाज़े से उसे जाने की राह मिली वह उड़ कर चला गया। इसमें अचरज की बात ही क्या है।

प्राणहीन देह से अधिक निस्सार वस्तु और क्या है। प्राण के चले जाने पर काया के पास रह ही क्या गया। उस का तो सर्वस्व ही लुटगया। वह जिस के उपभोग की सामग्री थी वह तो विरक्त होकर चलाही गया। उसे अब जला देना ही ठीक है।

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।
चन्दन काठ कै बनल खटोलना ता पर दुलहिन सूतल हो।
उठो सखी मोर मांग संवारो दुलहा मोसे रूसल हो।
आये जमराज पलंग चढ़ बैठे नैनन आंसू टूटल हो।
चारि जने मिल खाट उठाइन चहुंदिसि धू धू ऊठल हो।
कहत कबीर सुनो भाई साधो जग से नाता छूटल हो।

देह नश्वर है, कब छूट जाय, कौन जानता है। पर हम अज्ञान में—मोह में—पड़े रहकर अपना जीवन-काल व्यर्थ क्यों करें। जब तक शरीर में प्राण है तब तक हम उससे लाभ क्यों न उठावें, उसे साधना में क्यों न लगावें। साधना के लिए आवश्यक है सन्तोष। मन को वशीभूत करना होगा। सन्तोष-वृत्ति को धारण करना होगा। ज्ञान का आश्रय लेना होगा। जब तक जीवन है तब तक उसी जगदीश्वर का ध्यान करना होगा। तभी तो यह ज्ञान-ज्योति बनी रहेगी।

अंधियरवा में ठाढ़ि गोरी, का करलू।
जब लगि तेल दिया में बाती, एही अँजोरवा बिछाय धरलू।
मन का पलंग सन्तोष बिछौना, ज्ञान क तकिया लगाय रखलू।
जरि गया तेल बुझाइ गई बाती, सुरत में मुरत समाय रखलू।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, जोतिया में जोतिया मिलाय रखलू।

जो अज्ञान में पड़ा है उसे केवल सद्गुरु ही ज्ञान दे सकता है। वही उसे भवसागर से बचा सकता है। वही उसे बन्धन-मुक्त कर सकता है।

तोहिं मोरी लगन लगाये रे फकिरवा।
सोवतती मैं अपने मंदिर में, स बदन मारि जगाये रे फकिरवा।
बूड़त ही भव के सागर में, बहियां पकरि समुझाये रे फकिरवा।
एकै बचन बचन नहीं दूजा, तुम मोसे बन्द छुड़ाये रे फकिरवा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सत्त नाम गुन गाये रे फकिरवा।

संसार व्यर्थ आडम्बर में पड़ा रहता है। साधु की सङ्गति हो, गुरु की कृपा हो और हृदय में भक्ति हो, मनुष्य परम पद प्राप्त कर लेगा। जिसके हृदय में भगवान है उसके लिए तीर्थ स्थान क्या है। उसके लिए पावन दूसरा कौन है?

लोका मति का भोरा रे।
जो कासी तन तजै कबीरा रामै कौन निहोरा रे।
राम भगति पर जाको हित चित ताको अचरज काहा।
गुरू प्रताप साधु सङ्गति जग जीतै जाति जोलाहा।
कहत कबीर सुनौ रे सन्तो भरम परौ जनि कोई।
जस कासी तस मगहा ऊसर हृदय राम जो होई।

अन्त में उन्हों ने अपने प्रेम की स्वतन्त्र, निर्विकार, अद्वैत अवस्था को चित्रित कर संसार को प्रेम का यथार्थ पथ बतलाया—

हमन हैं इस्क मस्ताना हमन को होसियारी क्या।
रहें आजाद या जग में हमन दुनिया से दारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हम में हमन को इन्तिजारी क्या।
खलक सब नाम अपने को बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरु नाम साँचा है हमन दुनिया से यारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हम से न हम बिछुड़ें पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है हमन को बेकरारी क्या।
कबीरा इस्क का माता दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है हमन सिर बोझ भारी क्या।

प्रेम के सूक्ष्म पथ पर चलने वालों के लिए माया का बोझ सिर पर उठाना, एक के बदले दो दो की चिन्ता करना, सच मुच अपने को कष्ट में, संकट में, डालना है। जो इस मार्ग के पथिक हैं उनके लिए तो सर्वत्र एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म है।

कबीरदास के शिष्य धर्मदास ने लिखा है—

झरि लागै महलिया, गगन लहराय।
खन गरजै खन बिजुली चमकै लहर उठै शोभा वरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै प्रेम अनन्द ह्वै साधु नहाय।
खुली किबरिया मिटी अंधियरिया, धन सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास विनवै कर जोरी सतगुरु चरन में रहत सदाय।

सन्तों का यह वर्षोल्लास उनके हृदयोल्लास का सूचक है।

नानक में कवित्व कम है। परन्तु लौकिक भावों की सरलता और लौकिक विश्वास की दृढ़ता ने उनकी स्वच्छ भाषा में एक रमणीयता भर दी है—

सब कछु जीवत को व्यवहार।
मात पिता भाई सुत बान्धव, अरु पुन गृह की नार।
तन ते प्रान होत जब न्यारे टेरत प्रेत पुकार।
आध घड़ी कोऊ नहिं राखै घर तें देत निकार।
मृग-तृस्ना ज्यों जग-रचना यह देखो हृदै विचार।
कहु नानक भज राम नाम नित जातें हो उद्धार।

संसार की अनित्यता, वैराग्य, शील और सन्तोष, गुरु-भक्ति, दृढ़-विश्वास, भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण, यही सन्तों के उपदेशों की विशेषता है। सर्वसाधारण पर इनके उपदेशों का सदा प्रभाव पड़ा है। दादूदयाल जी का जन्म सन् १५४४ में हुआ था और सन् १६०३ में वे परमगति को प्राप्त हुए थे। एक ही पद्य में उन्होंने अपना मत प्रगट कर दिया है—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पख रहित पंथ गति पूरा अवरण एक अधारा।
वाद विवाद काहू सौं नाहीं माहिं जगत में न्यारा।
सम दृष्टी सूं भाई सहज में आप ही आप विचारा।
मैं, तैं, मेरी यह मत नाहीं निरवैरी निरविकारा।
पूरण सबै देखि आया पर निरालाभ निरधारा।
काहू के सङ्गी मोह न ममिता सङ्गी सिरजन हारा।
मन ही मन सूं समझि अपाना आनँद एक अधारा।
काम कलपना करे न कीजे पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पँथ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहजि सँभारा।

सन्तों के मार्ग में पक्षपात नहीं, वर्ण-विचार नहीं, वाद-विवाद नहीं, उसमें सम-दृष्टि रहती है। उसमें ममत्व के लिए स्थान नहीं रहता और न वैर-भाव और विकार के लिए। पूर्ण को देखने वालों के लिए अपने पर कहीं आसक्ति हो सकती है। भगवान ही एक-मात्र उनके सहचर हैं। पूर्ण ब्रह्म ही जिन्हें प्रिय है उन्हें कभी काम-कल्पना कैसे हो सकती है। वे यही मार्ग ग्रहण कर भवसागर पार कर जाते हैं।

दादू दयाल के कितने ही पद बड़े सरस हैं—

मन रे राम बिना तन छीजइ।
जब यह जाइ मिलइ माटी में तब कहु कइसहि कीजइ॥
पारस परस कँचन करि भीजइ सहज सुरत सुखदाई।
माया बेलि विषै फल लागे तापर भूलु न भाई॥
जब लगि प्रान पिण्ड है नीका तब लगि तू जिनि भूलइ।
यह संसार सेमर के सुख ज्यों तापर तूँ जिनि फूलइ।
औरउ यही जानि जग जीवन समउ देखि सच पावइ।
अंग अनेक आन मति भूलइ दादू जिनि उँहकावइ।

अर्थात् हे मन, बिना राम यह शरीर क्षीण होता जा रहा है। जब यह मिट्टी में ही मिल जायगा तब क्या होगा। भगवान् का स्मरण करना सदैव सुखद है। इसी रस को स्पर्श कर अपने को तू सुवर्ण बना ले। यह माया की लता लगी हुई है। इसमें विषय के ही फल लगे हैं। इन पर तू लुब्ध मत हो। जब तक शरीर में प्राण है तब तक तू प्रलाप मत कर। यह तो सेमर के फूल के समान है। तू बहक मत जा, यही अवसर है। इसी का सदुपयोग कर ले।

अजहुँ न निकसे प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहु युग बीते रैन गँवाई भोर।
अवधि गये अजहूँ नहिं आये कतहुँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू अइसहि आतुरि विरहिन जइसहि चन्द चकोर।

प्रियतम के दर्शन के बिना कितने दिन हो गये। अवधि बीत गई। पर वे नहीं आये। उनके मार्ग की प्रतीक्षा ही हो रही है।

बाबा मलूकदास जी ने अपना परिचय कितना अच्छा दिया है—

दर्द दिवाने बावरे अलमस्त फकीरा।
एक अकीदा लै रहे ऐसे मन धीरा।
प्रेम पियाला पीवते विसरे सब साथी।
आठ पहर यों झूमते ज्यों माता हाथी।
उनकी नजर न आवते कोइ राजा रंका।
बंधन तोड़े मोह के फिरते निहसंका।
साहब मिल साहब भये कछु रही न समाई।
कह मलूक तिस घर गये जहँ पवन न जाई।

प्रेम से उन्मत्त, सम-दृष्टि से सम्पन्न, निर्विकार, निश्शङ्क सन्त भगवान का साक्षात्कार करते हैं। तब वही ईश्वर-मय, ईश्वर ही, हो जाते हैं। वे उस परम धाम में पहुंच जाते हैं जहां पवन की भी पहुँच नहीं। मलूकदास की निम्नलिखित उक्ति में भी विश्वास की कितनी दृढ़ता है—

दीन दयाल सुनी जब तें तब तें हिय में कछु ऐसी बसी है।
तेरो कहाइ के जाउँ कहाँ मैं तेरे हित के पर खैंच कसी है।
तेरोइ एक भरोस मलूक को तेरो समान न दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहिं तेरी हँसी है।

सुन्दरदास जी ने कितना अच्छा कहा—

बोलिये तौ तब जब बोलिबे की सुधि होइ
न तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिये।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की जानि परै
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिये।
गाइये तौ तब जब गाइबे को कण्ठ होइ
स्रौन के सुनत ही मन जाइ गहिये।
तुक भंग छन्द भंग अरथ मिलै न कछु
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहीं कहिये।

चतुर्थ परिच्छेद

[१]

न्दी-साहित्य के आदिकाल में मनुष्य-जीवन में सत्य की उपलब्धि के लिए जो चेष्टा की गयी उसका यह फल हुआ कि मनुष्यों में सत्य को मूर्तिमान् देखने के लिए विकलता हुई। पहले कृच्छ्र साधनाओं और उग्र तपश्चर्या के द्वारा यतिगण सत्य का साक्षात्कार किया करते थे। संसार से विरक्त होकर, मनुष्य-जीवन को तुच्छ समझकर, वासनाओं से दूर होकर, सभी क्लेशों को सहकर, कठोर नियमों और उग्र साधनों से उन्होंने सत्य के दुर्गम स्थान को देख लिया। माया का बन्धन उन्होंने छिन्न-भिन्न कर

F. 5

डाला। जीवन और मृत्यु के द्वन्द्व से वे अलग हो गये। विश्व के प्रवाह से उनमें कोई विकार नहीं आया। वे सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुके। उनकी गणना मनुष्यों में नहीं, देवों में होने लगी। परन्तु सर्व-साधारण के लिए क्या उपाय है? इसके बाद जो साधक हुए वे भगवान् की लीला को पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देखना चाहते थे। वे उसके आनन्द-रस का उपभोग करना चाहते थे। इसे उन्होंने सहज साधनाओं से ही प्राप्त कर लिया। कृच्छ्र साधन-मात्र से भगवान की लीलाओं का रहस्य हम नहीं जान सकते। उन्होंने कहा कि हमने न तो घर छोड़ा और न हम बन ही गये। हमने कोई भी क्लेश स्वीकार नहीं किया। सहज प्रेम से हमने संसार को उसी के रूप में देखा। ये साधक विश्व के प्रवाह को क्षण भर भी रोक रखना नहीं चाहते। यदि विश्व का प्रवाह रुक जाय तो समस्त सौन्दर्य का प्रवाह स्थिर होकर मृत्यु-पुञ्ज में परिणत हो जायगा। भक्तगण किसी को भी रोककर, बाधा देकर स्थिर करना नहीं चाहते। वे मिथ्या से कलुषित नहीं होते। नदी के प्रवाह के समान माया का प्रवाह बहता रहता है।

पहिले साधक-गण असीम और निराकार के ध्यान में मग्न होकर रूप और रस से दूर हट गये थे। परन्तु भक्तों का सौन्दर्य-प्रिय मन जैसे भाव के लिए उत्सुक था वैसे ही रूप के लिए व्याकुल था। दोनों को उपलब्ध करने के लिए उन्होंने समस्त पृथ्वी को खोज डाला। अन्त में रूप में ही उन्होंने भाव को पाया। जिसके लिए वे जगत भर ढूंढ़ते फिरे, वह कहीं और नहीं, घर में ही है। प्राण में—जीवन की अजस्र धारा में— बिना डूबे घट का यह रहस्य समझ में नहीं आता। इसीलिए इतने दिनों तक जीवन से पृथक् कर

साधक-गण उसे समझ न सके। जिन्होंने प्राण के अतल रस में गोता लगाकर देखा उन्होंने रूप के रस का आविष्कार कर लिया।

साधारण मनुष्य जड़ के समान रूप की पूजा करता है, परन्तु वह रूप को देखता नहीं। इसी से विश्व में सौन्दर्य-रस का जो स्वाद, जो आनन्द है, वह व्यर्थ ही हो रहा है। उस आनन्द को पाने के लिए हमें जागृत होना पड़ेगा। जागृत-आत्मा ही उस आनन्द की उपलब्धि कर सकता है। जो जड़त्व की निद्रा से अवच्छन्न हैं वे उस स्वाद को कहां से पा सकते हैं। प्रेम न रहने से इस रहस्य का उद्घाटन नहीं हो सकता। धर्म के व्यर्थ आचार से भक्तों का अन्तःकरण चूर्ण नहीं हाता। भगवान् के जो सुन्दर नाम हैं उनकी उपयुक्त माला विश्व के आकार रूप है। विश्व के जो आकार निरन्तर परिवर्तित हो रहे हैं उन्हीं से भगवान् की माला का निरन्तर जप हो रहा है। घट में ही सब सुख और आनन्द है। घट के इस आनन्द का स्वाद पातेहो सभी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। घट के इस आनन्द का जिसने अनुभव नहीं किया वह कभी सुखी भी नहीं हुआ।

लोग कहते हैं कि संसार दुःखमय है। जो विश्व-चक्र घूम रहा है वही तो अमृत-दान करता है। कोल्हू के घूमने से जैसे तेल टपकता है वैसे ही विश्व-चक्र के परि-भ्रमण से भाव-सौन्दर्य का अमृत झरता है। यदि यह चक्र कभी बन्द हो जाय तो वस्तु के विषम पुञ्ज में पड़ कर संसार नष्ट हा जाय। यह चक्र निरन्तर चल रहा है, इसी-लिए अमृत महारस की धारा भी निरन्तर बह रही है। विश्व की रक्षा के लिए यह यात्रा हो रही है। जिन्हें हम

परिवर्तनशील आकार कहते हैं वे मानों पुकार कर रहे हैं कि हम सब अगम और अगोचर के मन्दिर की यात्रा कर रहे हैं। इस गोचर-मूर्ति और सौन्दर्य के साथ साथ हम भी उसी अगोचर के मन्दिर की यात्रा कर रहे हैं। यह अखिल ब्रह्माण्ड भगवान् का लीला-क्षेत्र है। यहां सदैव सौन्दर्य परिस्फुट होता रहता है, यहां सर्वदा उत्सव होते रहते हैं।

जो भक्त रूप और सौन्दर्य के लिए इतने व्याकुल हैं वे रूप से अतीत, निर्विकार और निराकार के धाम से अपरिचित नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्होंने रूप के अतीत को देख लिया है, इसी से वे उस रूप का उपभोग कर सकते हैं। अपरूप से ही रूप की सार्थकता है। भाव में ही आकार की सफलता है। तिल का प्राण तेल है, फूल का जीवन सुगन्ध है, दूध के भीतर नवनीत ही जीवन है। इसी प्रकार परमात्मा में ही आत्मा का यथार्थ जीवन है।

हम लोगों में विरह की बड़ी व्याकुलता है। यह विरह उसी की तृष्णा है। उस अपरूप से विरह होने के ही कारण हम इस रूप-वैचित्र्य को देख सकते हैं। यदि यह सृष्टि अकेले उसी की सृष्टि होती तो क्या हमें उससे किसी प्रकार का आनन्द मिलता। यह सृष्टि हमारी भी सृष्टि है। यदि हम न रहते तो यह सृष्टि आती कहां से। दूध बछड़े की तृप्ति के लिए है, बछड़ा होने से ही गाय दूध देती है, दूध देकर गाय को सुख होता है और दूध पाकर बछड़े को। बछड़े के प्रति गाय में जो प्रेम है वही उसके हृदय में रस होकर भरा रहता है, इसलिए दूध बछड़े की सृष्टि है। इसी तरह हमारे प्रेम से ही विधाता की सृष्टि है। चिरकाल से

असीम इस रूप-सीमा के लिए और सीमा असीम के लिए व्याकुल है।

यही वैष्णव-धर्म का मुख्य सिद्धान्त है। वह प्रवृत्ति को ध्वंस नहीं करता किन्तु प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति को क्रमशः आध्यात्मिकता की ओर ले जाना चाहता है। स्वभाव की उपेक्षा कर किसी अति मानवीय आदर्श के अनुसन्धान में व्यस्त रहने से उसका विपरीत ही फल होता है। विषय को छोड़कर विषयी को पकड़ने की चेष्टा करना, मनुष्य को छोड़कर मनुष्यत्व के पीछे दौड़ना, इन्द्रिय को छोड़कर रस-ग्रहण करने जाना विडम्बना मात्र है। इसीलिए वैष्णवों ने भगवान के अवतार-वाद का इतना समादर किया है। वैष्णव कवि मनुष्यों में भगवान के स्वरूप को उपलब्ध करना चाहते हैं। इन्हीं के कारण देवत्व में मनुष्यत्व का और मनुष्यत्व में देवत्व का भाव आरोपित हुआ। कबीर के निराकार राम तुलसीदास जी के साकार राम हुए। इसी प्रकार कृष्ण का भी रूप वृन्दावन विहारी हो गया।

वल्लभाचार्य और भक्त-शिरोमणि विट्ठलनाथ के उपदेशामृत से ब्रजधाम में मानो रस का सागर उमड़ पड़ा। सन्तों की रचनाओं में सत्य की सरल मूर्ति है। परन्तु ब्रज-साहित्य के नायक हैं श्रीकृष्ण, जिनका चरित्र प्रेम और सौन्दर्य का आगार है। उन्हीं को आदर्श मान कर मध्य-युग के कवियों ने अपनी कल्पना की रश्मि-छटा से अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि की है। सन्तों के विवेक और विराग का स्थान प्रेम और अनुराग ने ले लिया। विवेक लोक-मर्यादा की रक्षा करता है और प्रेम उस मर्यादा का अति-क्रमण कर जाता है। विराग का लक्ष्य ज्ञान है और अनुराग ज्ञान का तिरस्कार करता है।

विशुद्ध प्रेम लोकातीत, उच्छृङ्खल होता है। वह किसी भी बन्धन को स्वीकार नहीं करता। वह उच्छृङ्खल प्रेम जो लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन कर, लोक-लज्जा को छोड़कर, लोक-निन्दा को ग्रहणकर, अपने में ही सार्थकता प्राप्त करता है, उसका मूल्य संसार निर्धारित नहीं कर सकता। उद्धव ने गोपिकाओं की यही विक्षिप्तावस्था देखकर उन्हें जब ज्ञान का उपदेश दिया उस समय गोपियों ने कहा—

मति अति आपकी अनल अबला सी लगै
सागर सनेह कहो कैसे पार पावेगी।
खोलिए न जीभ अरु पीजिए न नाम, इत
बलदेव ब्रजराज जू की सुध आवेगी।
सुनतहि प्रलय पयोधि माँहि एक ऐसी
कहर करन हारी लहर सिधावेगी।
राधे दृग-सलिल-प्रवाह माँहि आज ऊधो
रावरे समेत ज्ञान गाथा बहि जावेगी।

गोपियों के द्वारा मध्य-युग के कवियों ने उद्धव को क्या उत्तर दिलवाया है, सन्तों की ज्ञान-गाथा का ही उत्तर दिया है।

धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो बाहर से आरोपित की जाती हो। जब तक धर्म का सम्बन्ध जीवन से बना रहता है तब तक उसका विकास होता रहता है। परन्तु जब धर्म जीवन पर आरोपित किया जाता है तब उसमें स्थिरता आ जाती है। तब धर्म जीवन का अनुसरण नहीं करता किन्तु जीवन धर्म का अनुसरण करता है। धर्म का एक सांचा तैयार हो जाता है जिसमें मनुष्य का जीवन ढाला जाता है। तब जीवन में कृत्रिमता आ जाती है। कृत्रिमता

के इस युग में जो साहित्य निर्मित होता है उसमें भी यही बात दिखाई देती है। सौन्दर्य के जिस अनन्त रूप की अभिव्यक्ति के लिए काव्यों की सृष्टि होती है वह अत्यन्त क्षुद्र हो जाता है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में वैष्णव-धर्म की उन्नति हुई। यह धर्म भारतीय-जीवन में स्वाभाविकता लाने के प्रयास का फल था। भारतीय-जीवन में कृत्रिमता का जो बन्धन फैला हुआ था, उसी के विरुद्ध वैष्णव गुरुओं ने आन्दोलन किया था। कबीर ने तत्कालीन समाज का अनुशासन तोड़ा और उसी के साथ साहित्य की कृत्रिम मर्यादा भी भङ्ग की। कबीर के पहले जिस प्रकार समाज की रक्षा के लिए धर्म की मर्यादा निश्चित की गई थी उसी प्रकार साहित्य की रक्षा के लिए कला की भी सीमा निश्चित की गई थी। इन दोनों में मनुष्यत्व की उपेक्षा की गई थी। वैष्णव-धर्म और वैष्णव-साहित्य ने समाज में स्वाभाविकता लायी। पर अन्त में इन दोनों के ही सांचे तैयार हो गये। वैष्णव-धर्म में साम्प्रदायिकता आ गई और उसी के साथ वैष्णव-साहित्य की महत्ता भी नष्ट हो गई। भक्ति का स्थान भावुकता ने ले लिया। पर वैष्णव-साहित्य के कारण हिन्दी-साहित्य में एक नये आदर्श की सृष्टि अवश्य हो गई। राधाकृष्ण के प्रेम-वर्णन से गद्गद होकर उन्होंने जिस पवित्र शृङ्गार-रस की अवतारणा की उसी के कारण हिन्दी-साहित्य में शृङ्गार-रस का आधिक्य हुआ। हिन्दी में व्रज भाषा का प्राधान्य हुआ और जब तक व्रजभाषा का यह प्राधान्य बना रहा तब तक हिन्दी के कवियों ने प्रेम के माधुर्य में ही कला की सार्थकता समझी। वैष्णव-साहित्य ने आत्मा के लिए शरीर और मन की उपेक्षा नहीं की थी। यह सच है कि मनुष्य केवल शरीर नहीं है और न मन ही

है। यह भी सच है कि आत्मा की अभिव्यक्ति में ही उसकी सत्ता की चरम सीमा है। पर शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के द्वारा ही उसके यथार्थ रूप का विकास होता है। जिन अवस्थाओं का अतिक्रमण करने से आत्मिक विकास होता है वे सभी कला के उपकरण हैं। अतएव मनुष्य के दैनिक जीवन में जो रस-धारा बह रही है, जो सौन्दर्य परिस्फुट हो रहा है, उसी के ओर हिन्दी के कवियों ने दृष्टिपात किया। आशा-निराशा, सुख-दुख, संयोग-वियोग, यही भाव उनकी कला के एक-मात्र विषय हो गये। हिन्दी साहित्य में शृङ्गार-रस का आधिक्य न तो तत्कालीन विलासिता का द्योतक है और न उससे समाज की कोई हानि ही हुई है। हिन्दी के कवियों ने कल्पना के द्वारा एक दूसरा ही जगत्—भाव-जगत्—निर्मित कर डाला था। उस जगत् में वर्षा हो या गीष्म, सौन्दर्य की रश्मि-छटा सदैव बनी रहती है। वह प्रेम का निकेतन है परन्तु उसका अस्तित्व केवल कवि के हृदय में है। जगत् से दूर रह कर हिन्दी के कवियों ने सदैव उसी कल्पित लोक में विहार किया है। अपनी कल्पना के सौन्दर्य में वे ऐसे डूब गये थे कि यथार्थ जगत् की ओर उनकी दृष्टि कभी गई ही नहीं। वर्षा-ऋतु में मेघागम देखकर वे किसी वियोगिनी के विरह-दुःख से विकल हो गये पर देश के हाहाकार से उनका चित्त विकृत नहीं हुआ। जब मुगल-साम्राज्य की श्मशान भूमि में भारतीय वैभव का चितानल जल रहा था तब वे नायिका को 'मान' करने का उपदेश देरहे थे। सच तो यह है कि अपनी कला में ये कवि ऐसे छिप गये हैं कि उनकी रचनाओं में कहीं उनका हम दर्शन नहीं करपाते। कभी कभी जब अन्तवेंदन से पीड़ित होकर वे पुकार उठते हैं, तभी हम जान पाते

हैं कि यहां एक मनुष्य का हृदय है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में न तो वर्णन-वैचित्र्य है और न विषय-वैचित्र्य है। केवल उक्तियों का ही, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं, यमकों और अनुप्रासों का ही वैचित्र्य है। इन कवियों ने भाषा में भी कला का वह चमत्कार दिखलाया है कि भाषा ही स्वयं सौन्दर्य की मूर्ति होगई है। सङ्गीत के अर्थ-हीन सप्तस्वरों के समान इनकी शब्द-योजना केवल ध्वनि मात्र है, अपना अर्थ प्रकट करदेती है। प्रत्येक अर्थ-हीन शब्द सार्थक होगया है। उसमें सार्थकता आगई है। यदि कला का अस्तित्व केवल कला के लिए है तो हिन्दी के इन कवियों ने उसी की सृष्टि की है। उसके रसका आस्वादन रसिक ही कर सकते हैं।

तन्त्री नाद कवित्त-रस सरस राग रस-रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग॥

इसके अधिकारी सभी नहीं हैं और न सभी के लिए उसकी सृष्टि हुई है। जो कला के मर्मज्ञ नहीं है उनके लिए उसमें कुछ है भी नहीं—

गिरि ते ऊंचे रसिक-मन बूड़े जहां हजार।
वहैं सदा पशु नरनि को प्रेम-पयोधि पगार॥

इस प्रकार भक्तिवाद का अन्त एक अपूर्व कला की सृष्टि में हुआ। उसमें कवियों की असंयत कल्पना है, कहीं कहीं उन्हों ने अपने वर्णन में शिष्टता का भी विचार नहीं किया है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने साहित्य में प्रेम-रस की धारा बहादी है। सभी को श्याम के रङ्ग में रंग कर उन्होंने एक करदिया है। उसमें सगुण और निर्गुण का भेद नहीं, उच्च और नीच का विचार नहीं, भले और बुरे की पहचान नहीं।

ब्रज-साहित्य के सबसे उज्ज्वल रत्न सूरदास हैं। उन के विषय में विद्वानों की राय है कि उनका जन्म सं० १५४० में हुआ और सं० १६२० में उनका देहावसान हुआ। दिल्ली के समीप सीही नामक ग्राम उनका जन्म-स्थान है। उनके पिता का नाम रामदास कहा जाता है। उन के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उनकी दृष्टि-शक्ति नष्ट हो गई थी और तभी से उनकी समस्त इन्द्रियाँ हरि की ओर आकृष्ट हो गईं—

सोइ रसना जो हरि गुण गावै।
नैनन की छबि यहै चतुरता ज्यों मकरन्द मुकुन्दहि ध्यावै।
निर्मल चित्त तौ सोई साँचो कृष्ण बिना जिय और न भावै।
श्रवणनि की जु यहै अधिकाई सुनि रस तथा सुधा-रस प्यावै।
कर तेई जो श्यामहिं सेवैं चरणन चलि वृन्दाबन जावै।
सूरदास जैये बलि ताके जो हरि जू से प्रीति बढ़ावै।

सूरदास के गुरु श्री वल्लभाचार्य थे। अपने गुरु पर उनकी अपार भक्ति थी। अपने गुरु के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है:—

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो।
श्री बल्लभ लख चन्द्र छटा बिन सब जग माँझ अँधेरो।
साधन और नाँहिं या कलि में जासों होत निबेरो।
सूर कहा कहि दुविधि आँधरो बिना मोल को चेरो।

जान पड़ता है कि सूरदास जी को भी अपने उदर-पोषण के लिए कष्ट सहना पड़ा।

मेरो मन मतिहीन गुसाईं।
सब सुख निधि पद कमल छाँड़ि श्रम करत स्वान की नाईं।

फिरत वृथा भोजन अवलोकत सूने सदन अजान।
तिहिं लालच कबहूँ कैसे हूं तृप्ति न पावत प्रान।
जहँ जहँ जात तहीं भय त्रासत आस लकुटि पद त्रान।
कौर कौर कारन कुबुद्धि जड़ किते सहत अपमान।
तुम सर्वज्ञ सकल विधि पूरन अखिल भुवन निज नाथ।
तिन्हें छांड़ि यह सूर महा सठ भ्रमत अमति के साथ।

उन्हें कदाचित् ऐसे भी लोगों की संगति में रहना पड़ा है जिन पर सदुपदेशों का कभी प्रभाव ही पड़ नहीं सकता। संसार में ऐसे अहम्मन्य तर्क-वीरों का अभाव कभी नहीं हुआ है। भगवान् के विमुख तो ये लोग सदैव ही रहते हैं—

छाँड़ु मन हरि विमुखन को संग।
जाके संग कुबुद्धी उपजै परत भजन में भंग।
कागहि कहा कपूर खवाये स्वान नहाये गंग।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अंग।
पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
सूरदास खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग।

निम्न लिखित पद में उन्होंने कदाचित् अपनी वृद्धावस्था का ही चित्र अङ्कित किया है—

दीनानाथ अब बार तुम्हारी।
पतित उधारन विरद जानि कै बिगरी लेहु सँवारी।
बालापन खेलत ही खोयो युवा विषय रस माते।
वृद्ध भये सुधि प्रगटी मोकों दुखित पुकारत ताते।
सुतनि तज्यो तिय तज्यो भ्रात तजि तन त्वच भई जो न्यारी।
श्रवन न सुनत चरन गति थारी नैन भये जल धारी।

पतित केस कफ कंठ विरोध्यो कल न परी दिन राती।
माया मोह न छाँड़ै तृष्णा ये दोऊ दुख दाती।
अवला व्यथा दूर करिबे को और न समरथ कोई।
सूरदास प्रभु करुना सागर तुमते होइ सो होई।

कहा जाता है कि अन्त काल में उन्होंने यह पद कहा था—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट सुयनन के उलटि पलटि ताटङ्क फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु कबहिं उड़ि जाते।

सूरदास ने निराकारवाद और निवृत्ति मार्ग को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने वैष्णव-धर्म की यथार्थ बात को माना है। वह यह कि स्वयं जगदीश्वर मनुष्य का जन्म लेकर मानव-जीवन के समस्त दुःखों और वेदनाओं को स्वीकार करता है। ईश्वर भी एक स्थान में मनुष्य है। वह दूर नहीं है। वह स्वर्ग में नही है। वह इसी मर्त्यलोक के सुख-दुःख और उत्थान-पतन में है। मानव-जीवन में जो विभिन्नता है, जो क्षुद्रता है, जो दुर्बलता है उसे स्वीकार कर सूरदास ने मनुष्य-जीवन को ईश्वर के आनन्द और प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में दिखलाया है। समस्त मानव-जीवन को ईश्वर से परिपूर्ण मान कर देखने के धर्म को छोड़कर ग्रहण करने योग्य दूसरा कौन धर्म है'। जीवन के सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग और आशा-निराशा में उसी की लीला है। इसी द्वन्द से वह आनन्द और प्रेम को पूर्ण करता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भगवान रामचन्द्र जी के ईश्वरत्व का बारम्बार स्मरण दिलाया है। उन्हें शायद सन्देह

था कि लोग भगवान की मानव-लीला को देख कर उनके ईश्वरत्व को न भूल जाँय। सूरदास जी तो भगवान की लीला-वर्णन करते हुए मानो स्वयं उनके ईश्वरत्व को भूल गये हैं। उनकी रचना में कहीं भी संशय का स्वार्थ नहीं है। उसमें पूर्ण मानव-जीवन है, वह जैसा है ठीक वैसा ही है, पर है वह आनन्द से उज्ज्वल। मानव-जीवन में जो एकता है वह प्रेम की है और जो वैचित्र्य है वह प्रेम के लिए है। अतएव प्रेम में ही उन्होंने भगवान के स्वरूप का दर्शन कराया है। वैसे तो भगवान् का रूप अज्ञेय, अचिन्त्य है। उसे जान ही कौन सकता है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै।
रूप, रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालम्भ मन धावै।
सब विधि अगम बिचारति ताते सूर सगुन पद गावै।

और भगवान् की लीलाओं के वर्णन में उन्होंने अमृत-रस की वर्षा कर दी है। जो सगुण है, जो प्रत्यक्ष है, जो आनन्द का परम धाम है, सौन्दर्य की परमावधि है, उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की आवश्यकता ही क्या है। जो एक बार इस प्रेम-रस का आस्वादन कर चुका वह ज्ञान के लिए क्यों प्रयास करेगा, गंगा को छोड़कर कुंआ खोदना क्यों चाहेगा।

मेरो मन अनत कहां सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै।
कमल नयन को छांडि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छांडि पियासो दुर्मति कूप खनावै।

जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु काम धेनु तजि छेरी कौन दुहावै।

अब उनका एकबार दर्शन तो कर लीजिए—

शोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुवन चलत रेनु तन मंडित मुख में लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन छवि गौरोचन को तिलक दिये।
लर लटकन मानो मत्त मधुप गन माधुरी मधुर पिये।
कटुला कंठ वज्र केहरि नख राजत है सखि रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये।

जिसने जीवन में एक बार क्षण भर के लिए भी इस रूप का दर्शन कर लिया उसका जन्म सार्थक हो गया। अब कृष्ण की एक बात सुन लीजिए—

मैया कबहिं बढ़ैगो चोटी।
किती बार मोंहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल को बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढत, गुहत, नहावत, ओछत, नागिन सी भ्वै लोटी।
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
सूर स्याम चिरजीवो दोऊ भैया हरि हलधर की जोटी।

इसके बाद वे हठ करने लगे—

आजु मैं गाय चरावन जैहौं।
वृन्दावन के भांति भांति फल अपने कर मैं खैहौं।
ऐसी बात कहो जनि बारे देखो अपनी भांति।
तनक तनक पग चलिहौ कैसे, आवत ह्वै है राति।
प्रात जात गैयां लै चारन, घर आवत हैं सांझ।
तुम्हरो कमल बदन कुम्हिलैहै घूमत घामहिं मांझ।

तेरी सौं मोहि-घाम न लागत, भूख कहूं नहिं नेक।
सूर स्याम प्रभु कह्यो न मानत, परे आपनी टेक।

यशोदा ने लाख समझाया, पर कृष्ण मानने क्यों लगे। अन्त में यशोदा उनको गाय चराने के लिए भेजने लगीं। पर दो ही दिन के बाद उन्हें एक उलहिना सुनना पड़ा। कृष्ण ने एक दिन खूब खीझ कर कहा—

मैया मैं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मो सों मेरे पायँ पिराइ।
जो न पतयाहु पूछ बलदाउहिं अपनी सौंह दिवाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कू आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरो अति बालक मारत ताहि रिंगाइ।

फिर किसी दिन बलराम के खूब चिढ़ाने पर उन्होंने यशोदा से जाकर कहा—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायो।
कहा कहौं यहि रिस के मारे हों खेलन नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, कौन तिहारो तात।
गोरे नन्द, यशोदा गोरी, तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर।
तू मोहीं को मारन सीखी दाउहिं कबहुं न खीझै।
मोहन को मुख रिस-समेत लखि जसुमति मन अति रीझै।
सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई जनमत ही को धूत।
सूर श्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत।

हठ करने में, उपद्रव करने में, कृष्ण भी एक ही थे। एक दिन तो यशोदा ने तंग आकर उन्हें बांध दिया—

यशोदा, तेरो भलो हियो है माई।
कमल-नयन माखन के कारन बाँधे ऊखल लाई।
जो सम्पदा देव-मुनि दुर्लभ सपनेउ दे न दिखाई।
याही तें तू गर्व भरी है घर बैठे निधि पाई।
तब काहू को सुत रोवत सुनि दौरि लेति हिय पाई।
अब काहे घर के लरिका सों करत इती जड़ताई।
बारम्बार सजल लोचन करि रोवत कुंवर कन्हाई।
कहा करौं, बलि जाउँ, छोरती तेरी सौत दिवाई।
जो मूरति जल थल में व्यापक, निगम न खोजत पाई।
सो जसुमति अपने आंगन में दैकर ताल नचाई।
सुर-पालक, सब असुर संहारक, त्रिभुवन जाहि डराई।
सूरदास, प्रभु की यह लीला निगम नेति नित गाई।

परन्तु कृष्ण का उपद्रव बन्द नहीं हुआ। वह तो बढ़ता ही गया। छिप छिप कर वे दही ओर माखन कुछ खाते थे, कुछ गिराते थे और बाकी बाँट देते थे। एक दिन यशोदा ने उनके मुख पर दही का कुछ अंश देख ही तो लिया। तब उसने कृष्ण को पकड़ कर पूछा—बता तो सही, सब दही कौन खा गया? इस पर देखिए, कृष्ण ने कैसी अच्छी अपनी सफ़ाई दी है—

मैया मेरी मैं माखन नहि खायो।
भोर भयो गैयन के पीछे मधुवन मोंहि पठायो।
चार पहर बंशीवट भटक्यो सांझ परे घर आयो।
मैं बालक बँहियन को छोटो सींको केहि विधि पायो।
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो।
तू जननी मन की अति भोरी इनके कहे पतियायो।
जिय तेरे कछु भेद उपज है, जान परायो जायो।

यह ले अपनी लकुट कमरिया बहुतहि नाच नचायो।
सूरदास तब विहँसि जसोदा लै उर कंठ लगायो।

बाल्य काल का यह चित्र दुर्लभ है और मातृ-स्नेह की यह ध्वनि कौन भूल सकता है। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर माता यशोदा की क्या अवस्था थी—

मेरे कुंअर कान्ह बिनु सब कछु वैसहि धर्‌यो रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेत गहै।
सूने भवन यसोदा सुत के गुन गुनि सूल सहै।
दिन उठि घेरत ही घर ग्वालिनी उरहन कोउ न कहै।
जो ब्रज में आनन्द होतो मुनि मनसा हू न गहै।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै।

प्रेम की क्या कोई एक अवस्था है? भक्तों ने प्रेम की सभी अवस्थाओं में भगवान का दर्शन किया है। वह स्वामी है, वह सखा है, वह बन्धु है, वह त्राता है, वह पुत्र है, वह पति है, वह नायक है। जीवन की ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है जहां प्रेम की अभिव्यक्ति न हो और प्रेम की ऐसी अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती जहां हम उस सौन्दर्य-निधान की छवि न देख सकें।

इस के बाद एक ओर भगवान के अपूर्व शौर्य की कथा है और दूसरी ओर गोपियों की अलौकिक प्रेम-लीला है। प्रेम का यह वर्णन इतना विशुद्ध है कि उसमें संशय के लिए कोई स्थान ही नहीं है। समाज की मर्यादा और सदाचार की सीमा मनुष्यों के लिए है। अपने सुखों की वृद्धि के लिए, संकटों से बचने के लिए, अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए, अपने अस्तित्व के लिए मनुष्य समाज का संगठन करता है

और धर्म की मर्यादा स्थापित करता है। यदि समाज न रहे, धर्म न रहे तो मनुष्यों का यह संसार भी नष्ट होजाय। जिस जाति में समाजिक मर्यादा नष्ट होने लगी और धर्म का लोप होने लगा उसका विनाश-काल समीप आगया है। धर्म और समाज का सदैव विकास होता रहता है। परन्तु जहां मनुष्य एक व्यक्ति है वहां त्याग ही उसके जीवन का परम आदर्श है। वहां मनुष्य अपने सुखों की वृद्धि नहीं चाहता किन्तु दुःखों को ही सहर्ष स्वीकार कर लेता है। संकटों और विपत्तियों का आह्वान करता है और अपने को ही दूसरे में लीन कर देता है। यह तल्लीनता प्रेम-साधना का फल है। प्रेम का रूप जितना ही विशुद्ध होगा उतनी ही उसमें तल्लीनता होगी। गोपियों के प्रेम में यही तल्लीनता है। उनकी समस्त लालसाओं का केन्द्र श्रीकृष्ण हैं और उनकी समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों का लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं। भक्त-कवियों के वर्णन में भी यही तल्लीनता है। साक्षात् सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण आद्या-शक्ति रूपिणी गोपियों के साथ विहार कर रहे हैं, इसमें उन्हें सन्देह ही क्यों होगा। समाज की कृत्रिम मर्यादा उस अकृत्रिम प्रेम के आगे कहीं ठहर सकती है? धर्म की क्षुद्र सीमा उस असीम और अनन्त शक्ति की लीलाओं को क्या घेर सकती है। इसी से व्रज भाषा के सभी कवियों ने पवित्र शृङ्गार-रस की अवतारणा में न तो सदाचार की सीमा का विचार किया और न धर्म की मर्यादा का। वर्णन लौकिक है पर विषय तो अलौकिक है। दृष्टि सीमा बद्ध है पर कल्पना के लिए तो कोई सीमा नहीं है। ज्ञान की उपमा है पर प्रेम की तो कोई उपमा नहीं है। शरीर के लिए बन्धन है, पर हृदय तो बन्धन-हीन है। तभी तो

नैना ढीठ अति ही भए।
लाज लकुट दिखाई त्रासी ने कहूँ न नए।
तोरि पलक कपाट घूंघट ओट भेटि गए।
मिले हरि को जाइ आतुर जेहैं गुणनि गए।
मुकुट कुंडल पीत पट कटि ललित भेस ठए।
जाइ लुब्धे निरखि वह छबि सूर नन्द-जए।

परन्तु क्या किसी सुख की लालसा से यह प्रीति गोपियों ने की थी। क्या उनके प्रेम में पाने की, लेने की, कोई कामना थी? प्रेम में तो केवल त्याग रहता है। गोपियां तो सिर्फ देना ही जानती थीं। श्याम के सम्बन्ध में उनका तो यह कहना था

सखी री श्याम कहा हित जानै।
कोऊ प्रीति करे कैसेहू वे अपनो गुन ठानै।
देखो या जल घट की करनी बरसत पोषै आनै।
सूरदास सरबस जो दीजै कारो कृत हि न मानै।

इसी से उनका कहना था —

प्रीति करि काहू सुख न लहयो।
प्रीति पतंग करो दीपक सों आपै प्राण दह्यो।
अति सुत प्रीति करी जब सुत सों सम्पति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नरद सों सन्मुख बाण सह्यो।
हम जो प्रीति करो माधव सों चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिन दुख दूनो नैनन नीर बह्यो।

अब तो

नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गोपाल वहां ते सजनी सुनियत दूरि सिधारे।
वे जल सर हम मीन बापुरी कैसे जिवहिं निनारे।

हम चातक चकोर श्याम घन वदन सुधा निधि प्यारे ।
मधुवन वसत आस दरसन की जोइ नैन मग हारे ।
सूरज श्याम करी पिय ऐसी मृतकहु ते पुनि मारे ।

उद्धव का संदेश क्या था प्रेम के प्रति मानो ज्ञान का उपदेश था और गोपियों का उत्तर क्या था मानो ज्ञान पर प्रेम की विजय थी ।

कहां लौ कीजै बहुत बड़ाई ।
अति अगाध मन अगम अगोचर मनसों तहां न जाई ।
जा के रूप न रेख वरन वपु नाहिन सखा सहाई ।
ता निर्गुण सो मेह निरन्तर क्यों ति बहै री माई ।
जल बिन तरँग, भीति विन लेखन विन चेतहिं चतुराई ।
या व्रज में कछु नहीं चाह है ऊधो आनि सुनाई ।
मन चुभि रह्यो माधुरी मूरति अंग अंग उर छाई ।
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन सूरदास सुखदाई ।

उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुनकर गोपियों ने यही कहा–

प्रेम प्रेम तें होय प्रेम, ते यह है जीये ।
प्रेम बंधो संसार, प्रेम परमराथ लहिये ।
एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल ।
सांचो निश्चय प्रेम को, जिहि रे मिलैं गोपाल ।
ऊधो कहि सतभाय, न्याय तुम्हरे मुख सांचे ।
योग प्रेम रस कथा, कहो कंचन की कांचे ।
जा के पर है हूजिए, गहिये सोई नेम ।
मधुप हमारी सों कहो, योग भलो या प्रेम ।

इसी से उन्होंने कहा

हमको हरि की कथा सुनाऊ ।
ये आपनी ज्ञान-गाथा अलि मथुरा ही लै जाउ

वे नर नारिन ही समुझहिंगी तेरो वचन सुनाउ।
पालागौं ऐसी इन बातनि उन्हीं जाइ रिझाउ ।
जो शुचि सखा श्याम सुन्दर को अरु जिय अति सति भाउ।
तो बारस आतुर इन नैनन वह मुख आनि दिखाऊ।
जो कोइ कोटि करै कैसेहु विधि विद्या बल कब आऊ।
तो सुन सूर मीन को जल बिन नाहिंन और उपाऊ।

अन्त में उन्होंने यही संदेश भेजा—

मधुकर इतनी कहियहु जाइ ।
अति कृश गति भई ये तुम बिन परम दुखारी गाय।
जल समूह बरसत दोउ आंखें हूँकति लीने नाउँ।
जहां जहां गोदोहन कीनो सूंघति सोइ ठांउ।
परति पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु सूर काढ़ि डारी हैं वारि मध्य तें मीन।

उद्धव ने लौट कर श्रीकृष्ण से कहा—

कहां लौ कहिये ब्रज की बात ।
सुनहु श्याम तुम बिन उन लोगन जैसे दिवस विहात।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत वै मलिन वदन कृश गात।
परम दीन जनु शिशिर हिमी हत अंबुज मत बित पात।
जा कहुं आवत देखि दूर तें सब पूछति कुशलात।
चलन न देत प्रेम आतुर उर कर चरनन लपटात।
पिक चातक बन बसन न पावहिं वायस बलिहिन खात।
सूर स्याम संदेशन के उर पथिक न डहि मग जात।

श्रीकृष्ण का यह कथन भी कितना करुणोत्पादक है।

ऊधो मोहि ब्रज विसरत नाहीं।
वृन्दावन गोकुल तन आवत सघन तृणन की छांहीं।

प्रति समय माता जसुमति अस नन्द देख सुख पावत ।
माखन रोटी दही सजायो अति हित साथ खवावत ।
गोपी ग्वाल बाल संग खेलत सब दिन हंसत खिसात ।
सूर स्याम धनि धनि ब्रजवासी जिनसों हंसत ब्रजनाथ ।

रुक्मिणि से उन्होंने कहा—

रुकमिनि मोंहि ब्रज विसरत नाहीं ।
वा क्रीड़ा खेलत यमुना तट विमल कदम की छांहीं ।
सकल सखा अरु नन्द यशोदा वे चित तें न टराहीं ।
सुत हित जानि नन्दप्रति पाले विछुरत विपति सहाहीं ।
यद्यपि सुख निधान द्वारावति तउ मन कहुँन रहाहीं ।
सूरदास प्रभु कुंज बिहारी सुमिरि सुमिरि पछताहीं ।

ऐसे भगवान की सेवा में जो न लग सका उसका जन्म व्यर्थ ही हुआ—

जन्म सिरानो ऐसे ऐसे ।
कै घरघर भरमत यदुपति तिन के सोवत कै वैसे ।
कै कहुँ खान पान रसनादिक कैकहुँ वाद अनैसे ।
कै कहुँ रँक कहूं ईश्वरता नट बाजीगर जैसे ।
चेत्यो नहीं गयो टरि अवसर मीन बिना जल जैसे ।
यह गति भई सूर की ऐसी श्याम मिलैं धौं कैसे ।

सूरदास के वर्णन की विशेषता यह है कि वे एक दर्शक की भांति, एक भक्त, अनुरक्त, सखा की भांति, श्रीकृष्णचन्द्र जी की लीलाओं का वर्णन करते हैं। उनके वर्णन में प्रेम है, उल्लास है, भक्ति है। परन्तु उनके वर्णन में कहीं भी वियोग की व्याकुलता नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो उन्होंने श्रीकृष्ण जी का सांनिध्य प्राप्त कर लिया था। कदाचित् यही

कारण है कि लोग उन्हें उद्धव का अवतार मानते हैं। वियोग की व्याकुलता मीरा बाई के पदों में है। उनमें वेदना है, अतृप्ति है, आकाङ्क्षा है, लालसा है।

बसो मेरे नैनन में नन्द लाल।
मोहनी मूरति सांवरि सूरति नैना बने विसाल।
अधर सुधारस मुरली राजित उर बैजन्ती माल।
क्षुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुख दाई भक्त बछल गोपाल।

उपर्युक्त पद्य से सामीप्य नहीं प्रकट होता, अनुराग प्रकट होता है। यह अनुराग इतना बढ़ गया कि मीरा ने सभी कुछ उस पर न्यौछावर करदिया—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सरन लोक जोई।
भाई छोड्या बन्धु छोड्या छोड्या सगा सोई।
साध संग बैठ बैठ लोक लाज खोई।
भगत देख राजी हुई जगत देख रोई।
अँसुवन जल सींच सींच प्रेम वेल बोई।
दधि मथ घृत काढ़ लियो डार दई छोई।
राणा विष को प्यलो भेज्यो पीय मगन होई।
अब तो बात फैल पड़ी जाणे सब कोई।
मीरा राम लगण लागी होणी होय सो होई।

प्रेम की इस व्याकुलता में उन्होंने लोक-लज्जा को तिलाञ्जलि दे दी, परलोक की भी उन्होंने परवाह न की। जब उनके नेत्रों में एक बार मुरलीधर बस गये तब उनके लिए स्वर्ग-सुख भी मिथ्या हो गया।

जब से मोहि नंद-नँदन दृष्टि पड्यो माई ।
तब से परलोक-लोक कछू न सोहाई ।
मोहन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै ।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै ।
कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई ।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ।
कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन में टोना ।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना ।
सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा ।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति बिशेषा ।
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी ।
दसन दमक दाड़िम द्युति चमके चपलासी ।
क्षुद्र घंट' किंकनी, अनूप धुनि सोहाई ।
गिरिधर के अंग अंग मीरा बलि जाई ।

हृदय में प्रियतम की छबि अङ्कित होगई । पर अभी तो सम्बन्ध उनसे केवल नाम का है । उनसे मिलन कब होगा, यह कौन जाने । इसका उपाय, इसकी युक्ति कौन बतावेगा । प्रिय के परम धाम तक पहुंचने के लिए कितने संकट, कितनी विपत्तियों का सामना करना पड़ा । एक तो विषय पथ ही है । परन्तु अभी तो बन्धन से ही मुक्ति नहीं हुई । जाना भी चाहूँ तो जाने का उपाय नहीं । ऐसी असहाय, निरुपाय, अवस्था में सद्गुरु ने ऐसी कृपा की कि भगवान् घर पर ही आकर मुझसे मिल गये । ये दो बातें मीरा के दो प्रसिद्ध पदों में है । एक में विरह की व्याकुलता है और दूसरे में मिलन का आभास है ।

नातो नाम को मोसूं तनक न तोड़्यो जाय ।
पानाँ ज्यूँ पीधी पड़ी रे, लोग कहैं पिंड-रोग ।

छाने पाँवन मैं किमा रे; राम मिलन के जोग ।
बावल वैद बुलाइया रे, पकड़ दिखई म्हाँरी वाह ।
मूरख वैद मरम नहिं जाने, करक कलेजे माह ।
जाको वैद घर आपणे रे, म्हांरो नाँव न लेय ।
मैं तो दाधी विरह की रे, काहे मूं औषद देय ।
धँस गलि गलि छीजि मारे, करक रह्या गल आहि ।
कहँ गुलिया की मूँदडी म्हारे आनन लागा बांहि ।
कहु रहु पापी पपिहरा रे, पिव को नाम न लेय ।
जे कोई विरहिन साम्हले तो पिय कारण जिय देय ।
खिण मन्दिर, खिण आंगणे रे, खिण खिण ठाढ़ी होय ।
घायल ज्यूं घूमूं खड़ी म्हारी बिथा न बूझै कोय ।
काढ़ि कलेजी मैं धरूँ रे, कौवा तू ले जाय ।
ज्याँ देस्यां म्हारो पिव बसे रे, वे देखत तू खाय ।
म्हारो नातो नाम को रे और न नातो कोय ।
मीरा व्याकुल विरहिनी रे, पिये दरसण दीजौ मोय ।

विरह की ज्वाला यही है। साधक की यह ज्वाला उसकी आत्मा की विपुलता का प्रमाण है। उसकी तृष्णा उसकी आकाङ्क्षा अपरिमित है। इस असीम तृष्णा को एक मात्र असीम भाव ही तृप्त कर सकता है। क्षुद्र, असीम, सुख का रस-पान करते पर तृष्णा मिटने की नहीं। मूर्ख वैद्य उसकी औषधि नहीं जानता है। उसे तो केवल शरीर का—केवल कवित्व का ज्ञान है।

गली तौ चारों बन्द हुईं, मैं हरि से मिलूं कैसे जाय ।
ऊँची नीची राह रप टीली, पाँव नहीं ठहराय ।
सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाय ।
ऊँचा-नीचा महल पिया का हमसे चढ्या न जाय ।
पिया दूर पंथ म्हारा कीना, सुरत झकोला खाय ।

कोस कोस पर पहरा बैठ्या, पैंड पैंड बटमार ।
हे विधना कैसी, रचि दीन्ही दूर बस्यो गाम हमार ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सतगुर दई बताय ।
जुगन जुगन तें बिछुड़ी मीरा घर में लीन्हा आय ।

सूरदास और मीरा की भक्ति में प्रेम का प्राबल्य है और गोस्वामी जी की भक्ति में सेवा का भाव है । विद्वानों की राय में राजापुर नामक ग्राम में, संवत् १५८९ में गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म हुआ था । उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता का हुलसी । उनके गुरु का नाम नरहरिदास बतलाया जाता है । राम चरित मानस में अपने गुरु की बन्दना में उन्होंने कहा है—

बन्दौ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि ।
महा मोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर ।
उनकी मृत्यु के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है ।
संवत सोरह सौ असी असी गंग के तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर ।

अपने जीवन कार्य में ही गोस्वामी जी ने असाधारण ख्याति प्राप्त कर ली थी । नाभादास जी ने उनकी प्रशंसा में लिखा है—

त्रेता काव्य निबन्ध कही शत कोटि रमायन ।
इक अक्षर उच्चरे ब्रह्म इत्यादि परायन ।
अब भक्तन सुख देन बहुरि वपुधरि लीला विस्तारी ।
राम चरण रस मत्त रहत अह निशि व्रतधारी ।
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो ।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो ॥

हिन्दी के अधिकांश कवि अपने विषय के ही वर्णन में तल्लीन होगये हैं। उन्हों ने अपनी कृतियों में अपने अस्तित्व को बिलकुल ही छिपालिया है। तोभी कभी कभी अन्तर्वेदना से पीड़ित होकर उन्हों ने अपनी भी कुछ बातें कही हैं। गोस्वामी जी के ऐसे उद्गार हिन्दी साहित्य में चिर-स्मरणीय बने रहेंगे।

मातु पिता जग जाय तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच, निरादर-भाजन, कादर, कूकर टूकन लागि ललाई।
राम सुभाय सुनयो तुलसी प्रभुसों कह्यो नारक पेट खलाई।
स्वारथ को पर मारथ को रघुनाथ सो साहव खोरि न लाई।

माता और पिता से परित्यक्त; जन्म से ही भाग्य हीन, निरादर के पात्र परान्न भोजी और परावस्थायी के लिए कल्प जीवन कितना दुःखद होगा, इसका गोस्वामी जी ने यहां आभास मात्र दिया है। अपने उदर पोषण के लिए अपनी अनाश्रित अवस्था में उन्हों ने कुत्तों के टुकड़ों के लोभ से किस किसकी सेवा न की होगी? पर अन्त में उन्हों ने लौकिक और पारलौकिक सुखों के साधन प्राप्त कर लिये। इसी बात को उन्हों ने एक दूसरी जगह भी कहा—

गायो कुल मंगन, व धावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
वारेतें ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।
तुलसी सो साहिव समर्थ को सुसेवक है
सुनत सिहात सोच विधि हू गनक को।
नाम राम राव रो सयानो किधौं बावरो
जो करत गिरीते गरू तृन तें तनक को।

अर्थात् भिक्षुक के कुल में मेरा जन्म हुआ मेरे जन्म का समाचार सुनकर बधावा तो जरूर बजवाया गया, पर मेरे ही कारण मेरे पिता और माता को दुःख हुआ और सन्ताप भी। बाल्य काल में मैं घर घर व्याकुल होकर भटकता फिरा और चार दानों को ही मैं चारो फल मान लेता था। अब तुम्हारे सेवक होने के कारण ब्रह्मा को भी ईर्षा होती है। आप के नाम को लोग समझदार समझें या पागल क्यों कि वह तो तृण के समान तुच्छ को भी पहाड़ से भी अधिक गुरु गौरव युक्त बना देता है।

इसके बाद भी गोस्वामी जी को अपने जीवन में संकट सहने पड़े होंगे परन्तु अपने दृढ़ भक्ति और दृढ़ विश्वास के कारण उन्हें कभी भी अपने लिए चिन्ता नहीं हुई। कितना ही बुरा समय क्यों न आया, परन्तु वे दृढ़ ही बने रहे—

दिन दिन दूनो देखि वारिद दुकाल दुःख
दुकित दुराज सुख सुकृति सकोचु है।
मांगे चैत पावत पुचारि पात की प्रचंड,
काल की करालता भले को होत पोचु है।
आपने तो एक अवलंब अंब डिंभ ज्यों
समर्थ सीतानाथ सब संकट विमोचु है।
तुलसी की साहसी सराहिये कृपालु राम
नाम के भरोसे परिनाम को निसोचु है।

अर्थात् दिन दिन दरिद्र, दुष्काल, दुख, पाप और अत्याचार की वृद्धि हो रही है और सुख और सुकृति का ह्रास हो रहा है। जो दुष्ट हैं वे तो जो चाहते हैं पा जाते हैं, बुराई तो भले लोगों की है। परन्तु मेरे लिए रामचन्द्र ही एक-मात्र आश्रय हैं। बच्चे को माता का ही तो आश्रय

रहता है। वही सब संकट दूर करते हैं। उन्हीं के नाम का भरोसा रख मैं तो बिलकुल निश्चिन्त हूं।

परन्तु निश्चिन्त होने पर भी गोस्वामी जी को लोगों की दुर्दशा देख वेदना हुई ही होगी। तभी तो घबड़ा कर उन्होंने कहा है—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि
वनिक को वनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान, सोचवस,
कहैं एक एकन सो कहां जाई, का करी।
वेद हूं पुरान कही, लोकहूं बिलोकियत,
सांकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी।
दारिद दसानन दबाई दुनी दीन बन्धु
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।

अर्थात् आजकल सभी लोग संकट-ग्रस्त हैं, क्या किसान, क्या भिक्षुक, क्या व्यवसायी और क्या नौकर। किसी को कुछ नहीं सूझ पड़ रहा है। सभी दुःखित हैं। यह बात तो प्रसिद्ध है कि संकट में आपही कृपा करते हैं। आज दारिद्र रूपी रावण ने संसार पर अपना आतङ्क फैला रक्खा है। आप ही पाप-नाशक हैं। आप से ही मैं प्रार्थना कर रहा हूँ।

गो स्वामी जी की 'समबुद्धि' से धर्म के कुछ धुरन्धर उनसे अवश्य चिढ़े होंगे। तभी तो उन्होंने कहा है—

मेरी जाति पांति न चहौं काहू की जाति पांति
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।

अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझै लोग
साह ही को गोत गोत होत है गुलाम को।
साधु के असाधु कै भलो कै पोच सोच कहत
का काहू के द्वार परो जो हौं सो हौं राम को।

अर्थात् न तो मेरी जाति-पांति है और न मैं किसी की जाति-पांति चाहता हूं। किसी से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। मेरा लोक-परलोक भगवान् के हाथ है। उन्हीं का मुझे भरोसा है। मेरा गोत्र क्या पूछते हो। जो स्वामी का गोत्र होता है वही सेवक का होता है। अच्छा हूं या बुरा, मैं भगवान् का हूं। मैं तो किसी के द्वार पर नहीं जाता।

व्याधि से पीड़ित होकर गोस्वामी ने कैसी प्रार्थना की है—

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर,
पाइं तर आई रह्यों सुर सरि तीर हौं।
बाम देव राम को सुभाव सील जानि जिय
नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं।
अधि भूत बेदन बिषम होत भूत नाथ
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिए तो अनायास कासी बास खास फल
ज्याइए तो कृपा करि निसज सरीर हौं॥ १॥
जीने की न लालसा दयालु महादेव मोंहि
मालुम है तोहिं मरिबेई को रहतु हौं।
काम रिपु राम के गुलामनि को कामतरु
अवलम्ब जगदम्ब सहित चहतु हौं।
रोग भयो भूतसो कुसूत भयो तुलसी को
भूत नाथ पाहि पद पंकज गहतु हौं।

ज्याइए तौ जानकी रमन जन जानि जिय
मारिए तो मांगी मीचु सूधिमै कहतु हौं।

अर्थात् मैं आपका सुयश सुनकर आपके ही चरणों के नीचे गंगा के तट पर आकर रहने लगाहूं। आप जानते हैं राम जी का कैसा शील-स्वभाव है। आप मेरे स्नेह के सम्बन्ध को भी जानते हैं। मैं तो केवल उन्हीं से डरता हूं। आज मैं रोग की पीड़ा से विकल हूं। मगर आप मुझे मारडालिए तो मुझे काशीवास का फल प्राप्त होगा। पर अगर आप मुझे जीवित ही रखना चाहें तो मेरे रोग को दूर करदीजिए। मुझे कुछ जीने की लालसा नहीं है। मैं तो यहां मरने के ही लिए आयाहूं। अब इस रोग के कारण मुझे बड़ा कष्ट होरहा है। अगर आप मुझे रामका सेवक जानकर जिलाना चाहें तो जिला दीजिए और अगर मारना चाहें तो मैं तो यही चाहता ही हूं।

गोस्वामी जी के दो ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं विनय पत्रिका और रामचरितमानस। रामचरितमानस तो महाकाव्य है। वह समस्त हिन्दू-जाति का काव्य है। ऐसे काव्यों में कवि का अस्तित्व बिलकुल छिपजाता है। परन्तु विनयपत्रिका में कवि ने हमें अपने अन्र्तजगत् का दर्शन कराया है। यहां हमें कवि से ही सहानु-भूति होती है। यहाँ हम उसे यथार्थ रूप से देख सकते हैं। विनय-पत्रिका में भक्ति और प्रेम, दुख और सन्ताप के उद्गार हैं। यहां कवित्व कला का चमत्कार नहीं है, कृत्रिमता नहीं है। जिस पत्रिका को गोस्वामी जी स्वयं भगवान के पास भेजना चाहते हैं उसमें बनावटी बातें लिखी ही नहीं जासकतीं। भगवान से भी क्या कोई छल या कपट कर सकता है? जो सबके हृदय में निवास करते हैं उनसे भी

क्या कोई अपनी बात छिपा सकता है। विनय-पत्रिका की श्रेष्ठता इसी पर है।

राम के गुलाम नाम राम बोला राख्यौ राम
काम यहै नाम द्वैहों कबहूं कहत हौं।
रोटी लूगा नीके राखै आगे हू की वेद भाखै
चलो ह्वै है तेरो ताते आनन्द लहत हौं।
बांध्यो हौं करम जड़ गरब निगड़ गूढ़
सुनत दुष्ट हौं तो शासति सटत हौं।
आरत अनथ नाथ कौशल कृपाल पाल
लीन्हों छीनि दीन देख्यो पुरित दहत हौं।
बूझयो ज्योंही रह्यो मैं हूं चेरो ह्वै हौं रावरो जू
मेरो कोऊ कहुं नाहिं चरण गहत हौं।
भींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बांह बोलि
सेवक सुखद सदा विरद बहत हौं।
लोक रहें पोचु सो न सोच न संकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं।

अर्थात् मैं राम का गुलाम हूं। मेरा नाम राम बोला है। कभी कभी राम नाम कह लेना यही मेरा काम है। मुझे न इस लोक की चिन्ता है न परलोक की। यहाँ तो रोटी और कपड़ा पा जाने से ही मैं समझता हूं कि मैं अच्छी तरह हूं। मुझे विश्वास है कि आगे मेरी भलाई ही होगी। अभी तक मुझे जड़ कर्म ने अहङ्कार की असह्य बेड़ी से बांध रक्खा है। वह तो अनाथों के नाथ की कृपा से नष्ट हो गई। गुरु ने पूछा तू कौन है तब मैंने कहा— मैं तो

आपका चेला हूंगा। मेरा कोई नहीं है। मैं आपके ही चरणों का आश्रय ग्रहण करता हूं। गुरु ने मेरी पीठ ठोकी और बुलाकर बांह पकड़ उन्होंने मुझे अपना लिया। तब से मैं सेवक का यह बाना धारण कर रहा हूं। संसार मुझे नीच कहे, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। मुझे न विवाह करना है और न किसी की जाति-पांति में बैठना है। मेरा तो हानि-लाभ राम के ही खीझने और रीझने से है। मुझे उनकी प्रीति पर विश्वास है। इसीलिए मैं प्रसन्न रहता हूं।

अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी।
इनको विलग न मानिये बोलहिं न बिचारी।
लोक रीति देखी सुनी व्याकुल नर नारी।
अति बरषै अन बरषै हू देहि दैवहि गारी।
ना कहि आये नाथ सो सासति भय भारी।
कहि आयो कीनी क्षमा निज ओर निहारी।
समय सांकरे सुमिरिये समरथ हित कारी।
सो सब विधि ऊपर करै अपराध विसारी।
बिगरी सेवक की सदा साहब हिं सुधारी।
तुलसी पर तेरो कृपा निरुपाधि निहारी।

अर्थात जो आर्त होते हैं, स्वार्थी हैं और अत्यन्त दीन और दुःखी हैं वे कभी विचार कर बोल नहीं सकते। उनकी बातों से किसी को भी बुरा नहीं मानना चाहिए। व्याकुल होने पर स्त्री पुरुष अधिक वर्षा होने पर या वर्षा ही न होने पर दैव को गाली देते हैं। जब पीड़ा और भय से मैं बिलकुल व्याकुल होगया तभी मैंने कहा। आप अपनी ओर देखकर क्षमा करेंगे। संकट के समय में जो समर्थ हैं, हितकारी हैं उन्हीं

का हम स्मरण करते हैं और वे भी सब अपराध भूल कर कृपा करते हैं। सेवक की बिगड़ी हुई बात को स्वामी सुधार लेते हैं। तुलसी पर तो तुम्हारी निराली ही—जिससे कोई उपाधि, खटका, नहीं—कृपा है।

कबहूंक अम्ब अवसर पाई।
मेरी ओ सुधी द्यापवी कछु करुण कथा चलाई।
दीन सब अंग हीन छीन मलीन अघी अघाई।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाई।
बूझि है सो है कौन कहिवो नाम दशा जनाइ।
सुनत रामकृपालु के मेरी बिगरी ओ बनिजाइ।
जानकी जग जननि जनको किये बचन सहाइ।
तरे तुलसीदास भव तव नाथ गुणगण गाइ।

अर्थात् हे माता, कभी दया की बात चलाकर उन्हें मेरी भी सुधि दिलाना। कहना कि एक दीन है जो क्षीण, मलीन और अत्यन्त पतित है और जो आपका नाम लेकर अपना उदर-पोषण करता है। वह इस दासी का दास कहलाता है। जब वे पूछें तब उन्हें मेरा नाम और पता बतला देना। कृपालु रामचन्द्र जी के सुन लेने पर मेरी बिगड़ी हुई बात भी बन जायगी। हे जगकी जननी जानकी जी आपके इन बचनों से मुझे बड़ी सहायता मिल जायगी और मैं आपके स्वामी का गुण-गानकर भव-सागर को पार कर जाऊंगा।

इहै पास फल परम बड़ाई।
नख सिख रुचिर विन्दु माधव छवि निरखहिं नयन अघाई।
विशद किशोर पीन सुन्दर वपु श्याम सुरुचि अधिकाई।

नील कंज वारिद तमाल मणि इन्ह तनु ते द्युति पाई।
मृदुल चरण शुभ चिह्न पदज नख अति अद्भुत उपमाई।
आत्म नील पाथोज प्रसव जनु मणि युत मल समुदाई।
जात रूप मणि जटिल मनोहर नूपुर जन सुखदाई।
जनु हर उर हरि विविध रूप धरि रहे वर मग्न बनाई।
कटि तटि रटति चारु किंकिणी रव अनुपम वरणि न जाई।
हेम जलज कल कलित मध्य जनु मधुकर मुखर सोहाई।
उर विशाल भृगु चरण चारु अति सूचत कोम धताई।
कंकण चारु विविध भूषण विधि रचि निज कर मन लाई।
गज मणि माल बीच भ्राजत कहि जाति न पदि कनिकाई।
जनु उडु गण मंडल वारिद पर नवग्रह रची अथाई।
भुजग कोऊ भुज दण्ड कंज पर चक्र गदा बन आई।
शोभा तीव ग्रीव चिवुकाधर वदन अमित छवि छाई।
कुलिस कुन्द कुडमल दामिनि द्युति दशनव देख लजाई।
नासा नयन कपोल पवित श्रुति कुण्डल भ्रू मोहिं भाई।
कुंचित कच शिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई।
अल्प तड़ित युग देख इन्दु महँ रहि तजि चंचलताई।
निर्मल पीत दुकूल अनूपम उपमा हिय न समाई।
बहु मणि युत गिरि भील शिखर पर कनक बसन रुचिराई।
दक्ष भाग अनुराग सहित इन्दिरा अधिक ललिताई।
हेम लता जनु तरु तमाल मृग नील निचोल ओढ़ाई।
शत शारदा शेष श्रुति मिलि करि शोभा कहि न सिराई।
तुलसीदास मति मन्द द्वन्द्व रत कहे कौन विधि भाई।

इसमें तुलसीदास जी ने नख से शिखा तक भगवान के रूप का वर्णन किया है। तुलसीदास और सूरदास जी के रूप वर्णन में यही विशेषता है कि वे सौन्दर्य की एक मूर्ति

अङ्कित करते हैं परन्तु उसे उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से गुम्फित करडालते हैं। ऐसा जानपड़ता है कि रूप की वह झलक नेत्रों के सामने आते ही तुरन्त भाव-जगत से कल्पना-जगत में विलीन होजाती है। यह रूप इन्द्रिय ग्राहण नहीं है। यह आनन्द की वह छाया सभी मूर्ति है जो केवल साधन से, अनुभूति से ही, उपलभ्य है। वह कल्पना के भी अतीत है। भगवान के श्यामशरीर से ही नीले कमल, मेघ, तमाल वृक्ष और नीलमणि ने द्युति प्राप्त की है। उनके उंगलियों के साथ नखों की ऐसी शोभा है कि मानो लाल, भी एक मधु के मणि जटित पन्ने निकले हों। सुवर्ण के कमल की कलियों में जब भौरों का सुखद शब्द हो तब उनकी कटि की किंकिणियों के रव से उनकी तुलना की जासकती है। उनके कंकण आदि आभूषणों के बनाने वाले स्वयं ब्रह्मा हैं। उन्होंने जो मोतियों की माला पहनी है उस में बीच बीच में रत्न हैं।

वे ऐसे हैं कि मानो मेघ के ऊपर तारागणों के बीच नवग्रहों के बैठने की जगह बनाई है। दांतों को देखकर हीरा, कुन्द-कली और बिजली लज्जित हो जाती हैं। उनके कुंचित केश हैं, सर पर मुकुट है, भाल पर तिलक है। तिलक क्या है मानो चन्द्रमा में तड़ित की दो रेखायें निश्चल हो गई हैं। उनके साथ लक्ष्मी बैठी हैं वे ऐसी मालूम होती हैं कि मानो तमाल के वृक्ष के पास सोने की लता नील वस्त्र ओढ़कर बैठी है। सचमुच यह शोभा अवर्णनीय है, इन्द्रियों से अनधिगम्य है।

मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।
हो तो सांइ द्रोही पै सेवक हित आई।
राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो।

राम सों खरो है कौन मोसो कौन खोटो।
लोक कहै राम को गुलाम हौं कहावों।
एतो बड़ो अपराध भव न मन बावों।
पाथ माथे चढ़े तृण तुलसी जो नीचो।
बोरत न करि ताहि जानि आपु सींचो।

अर्थात् रामचन्द्रजी अपनी ही अच्छाई से मेरा भला करते हैं। मैं स्वामी का द्रोही भले ही हूं, पर भगवान तो सेवकों को हित करने वाले हैं। मैं सबसे छोटा हूं पर उनसे बड़ा कौन है। मैं सबसे खोटा हूं, पर उनसे अधिक खरा कौन है। तोभी मैं हूं उन्हीं का सेवक। बड़ा भारी अपराध हुआ, पर उनका मन क्यों विकृत, टेढ़ा होगा। नीच तृण को जब अपने मस्तक पर रख लेता है। उसी का तो वह सींचा हुआ है। वह उसे नष्ट कैसे कर देगा।

मन माधव को नेकु निहारहि।
सुनु शठ सदा रंक के धन ज्यों छन छन प्रभुहि संभारहि।
शोभा शील ज्ञान गुण मन्दिर सुन्दर परम उदारहि।
रञ्जन सन्त अखिल अघगञ्जन मञ्जन बिषय विकारहि।
जो विनु योग यज्ञ व्रत संयम गह्यो चहहि मन वारहि।
तौ जनि तुलसिदास निशि बासर हरिपद कमल विसारहि।

अर्थात् अरे मन, भगवान की ओर भी तो दृष्टि-पात कर। जैसे दरिद्र अपने धन की चिन्ता में सदैव संलग्न रहता है उसी प्रकार तू भी श्री भगवान की सेवा में लग। भगवान शोभा, शील, ज्ञान और गुण के निधान हैं, सुन्दर हैं और अत्यन्त उदार हैं। वे सज्जनों को सुख देने वाले, समस्त पापों को नष्ट करने वाले औ वासनाओं के विकारों को दूर करने वाले हैं। मुक्ति के लिए उन्हीं का ध्यान कर। योग यज्ञ और संयम की जरूरत ही नहीं है।

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो ।
हरिपद विमुख लह्यो न काहु सुख शठ यह समुझ सबेरो ।
बिछुरे शशि रवि मन नयननि तें पावत दुख बहुतेरो ।
भ्रमत श्रमित निशि दिवस गगन महँ तहं रिपु राहु बड़ेरो ।
यद्यपि अति पुनीत सुर सरिता तिहुं पुर सुयश घनेरो ।
तजे चरण अजहूं न मिटत नित बहिबो ताहू केरो ।
छुटै न विपति भजे बिनु रघुपति श्रुति सन्देह निवेरो ।
तुलसिदास सब आस छांड़ि करि होहु राम कर चेरो ।

अरे मन जो भगवान् के चरणों से विमुख हुआ उसे भी फिर कभी सुख ही नहीं मिला। देख, सूर्य और चन्द्रमा उनसे पृथक् होते ही आकाश में चक्कर लगा रहे हैं और राहु भी उनके पीछे पड़ा हुआ है। भगवान् के चरणों को छोड़ देने के कारण गंगा जी भी अब बहती ही जा रही हैं। हैं वे पुनीति और त्रिभुवन में उनका यश भी है पर उन्हें तो शान्ति नहीं है। इससे सब आशाओं को छोड़ राम का दास हो।

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परि हरि राम भक्ति सुर सरिता आस करत ओसन की ।
धूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की ।
नहिं तहँ शीतलता तवारि पुनि हानि होत लोचन की ।
ज्यों गच कांच विलोकि सेन जड़ छांह आपने तन की ।
टूटत अति आतुर अहार बश क्षति बिसारि आनन की ।
कह लौं कहौं कुचाल कृपा निधि जानत हौं गति जन की ।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख करहु काज निज पन की ।

मन भी कैसा मूढ़ है, राम-भक्ति रूपी गंगा को छोड़कर ओसों की ही चाह करता है। चातक को कहीं धुंए से जल

मिल सकता हैं। मूर्ख बाज अपनी ही पर छांई को देखकर उस पर टूटता है। ठीक यही अवस्था मन की है। भ्रम में, अज्ञान में, पड़कर वह सुख को छोड़कर सुखा भास की ओर दौड़ रहा है।

काहे ते हरि मोंहि विसारो।
जानत निज महिमा मेरे अघ तदपि न नाथ सँभारो।
पतित पुनीत दीन हित अशरण शरण कहत श्रुति चारो।
हौं नहिं अधम सभीत दीन कि धौं वेदन मृषा पुकारो।
खग गणिका गज व्याध पाँति जहँ तहँ होहूँ बैठा रो।
अब ऐहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो फारो।
जो कलि काल प्रबल अति हो तो तुव निदेश ते न्यारो।
तो हरि रोष भरोस दोष गुण तेहि भजते तजि गारो।
मसक विरंचि विरचि मसक सम कहु प्रभाउ तुम्हारो।
मह सामर्थ्य अछत मोंहि लागहु नाथ तहाँ कछु चारो।
नाहिन नरक परत मो कहँ उर यद्यपि हों अति हारो।
यह बडि त्रास दास तुलसी प्रभु नाहूँ पाप न जारो।

भला आप मुझे कैसे भूल गये। मैं पापी हूँ और पतित-पावन होकर भी आपने मुझे नहीं सम्हाला। आप अपनी महिमा तो जानते हैं। पतित को पवित्र करने वाले, दोनों का हित करने वाले, अशरण को शरण देने वाले आप ही तो हैं। सभी वेद यही कहते हैं। तो क्या मैं अधम नहीं हूँ दीन हूँ या वेद ही झूठी बात कह रहे हैं? पक्षी, गणिका, गज और व्याध की ही पंक्ति में मुझे बैठा देख मुझ पर वैसो कृपा क्यों नहीं करते आपके सामने सत अगराय है। आपके नाम से मेरा उद्धार न हो। यही मेरे लिए त्रास की बात है।

तऊ न मेरे अघ अवगुण गनिहै।
जो जमराज काज सब परिहरि यहौ ख्याल उर अनिहैं।

चलिहैं छूटि पुंज पापिन के असमंजस जिय अनिहैं ।
देखि खलल अधिकार प्रभू सों मेरी भूरि भलाई भनिहैं ।
हँसि करि हैं पर तीति भक्त की भक्त सिरोमणि मनिहैं ।
ज्यों त्यों तुलिदास कौशलपति अपनायहि परि बनिहैं ।

मेरे पापों का हिसाब करने के लिए यदि जमराज बैठ जावेंगे तो उनके अधिकार में ही बाधा पड़ेगी। घड़ी दो घड़ी में मेरे पापों की गणना हो नहीं सकती। हिसाब करते करते जब सभी पापियों को भागते हुए वे देखेंगे तब तो बड़ी चिन्ता में वे पड़ जावेंगे। आखिर स्वयं जाकर मेरी प्रशंसा भगवान से करेंगे और हंसकर भगवान् मुझे भक्त शिरोमणि मान ही लेंगे, किसी भी तरह उन्हें अपनाना ही पड़ेगा।

जो पै जिय धरि हो अनगुण जन के ।
तौ क्यों कहत सुहत नख ते मो पै विपुल वृन्द अघ बन के ।
कहि है कौन कलुष मेरे कृत कर्म बचन अरु मन के ।
हारहिं अमित शेष शारद श्रुति गिनत एक भर छिन के ।
जो चित चढ़ै नाम महिमा निज गुण गण पावन पन के ।
तो तुलसिहिं तारि हौ विप्र ज्यों दशन तोरि अघमन के ।

आप यदि मेरे दोषों पर ध्यान देंगे तो मेरा उद्धार नहीं होने का। भला, नख से मैं कहीं जंगल काट सकता हूँ। अपने सुकृत से कहीं पापों को नष्ट कर सकता हूँ ; मेरे पापों की तो कोई गणना ही नहीं कर सकता। शेष शारदा और वेद भी थक जायंगे। आप तो अपनी महिमा पर ध्यान देकर मेरा उद्धार कीजिए।

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति ।
निज प्रभुता विसारि जन के वश होत सदा यह रीति ।

जिन बांधे सुर असुर नाग नर प्रबल कर्म की डोरी।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म यशुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी।
जाकी काया वश विरंचि शिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल युवतिन सोइ नाच नचायो।
विश्वम्भर श्रीपति त्रिभुवन पति वेद विदित यह लीख।
बलि सों कछु न चली प्रभुता वल दै द्विज माँगी भीख।
जाको नाम लिये छूटत भव जन्म मरण दुख भार।
अम्बरीष हित लागि कृपा निधि सोइ जनम्यो दशवार।
योग विराग ध्यान जप तप करि जे खोजत मुनि ज्ञानी।
वानर भालु चपल पशु पामर नाथ तहाँ रति मानी।
लोक ध्रव यम काल पवन रवि शशि सब आज्ञाकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार वेंत कर धारी।

भगवान तो अपने दास पर ऐसी ही प्रीति करते हैं। वे अपनी महिमा भी भूल जाते हैं और भक्त के वश हो जाते हैं। यही उनकी रीति है। जिन्होंने देवों, असुरों, नागों और मनुष्यों को कर्म के प्रबल बन्धन से बांध रक्खा है वे स्वयं उस डोरी को न खोल सके जिससे यशोदा ने उन्हें बांधा था। जिनकी माया के वशीभूत हो ब्रह्मा और शंकर जी भी नाचते हैं उन्हें गोपियों ने नचा डाला। बलि से उन्हें भीख मांगनी पड़ी। अम्बरीष के लिए जन्म लेना पड़ा। नीच पशुओं से मित्रता करनी पड़ी। और उग्रसेन का द्वारपाल होना पड़ा।

जाऊं कहां तजि चरण तुम्हारे।
काको नाम पतित पावन जग केहि अति दीन पियारे।
कौन देव वराइ विरद हित हरि हठि अधम उधारे।
खग मृग व्याध पषाण विटप जड़ यवन कइक सुरतारे।

देव दनुज मुनि नाग मनुज सब काम विवश विचारे ।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपन पौ हारे ।

अब आपके चरणों को छोड़कर कहां जाऊं। और किसका नाम पतित-पावन है, और कौन दीनों पर दया करने वाला है। किस देव ने पक्षी, मृग, व्याध, पत्थर, वृक्ष, यवन आदि का उद्धार किया, चुन चुन कर पापियों को तारा। सभी तो माया के वशीभूत हैं। तब मैं भला उनका आश्रय क्यों लूं।

अबलौं नशानी अब न नसैहौं।
राम कृपा अब निशा सिरानी जागे फिर न डसैहौं।
पायो नाम चारु चिन्तामणि उर करते न खसैहौं।
श्याम रूप शुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि रसैहौं।
परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज वश ह्वै न हंसैहौं।
मन मधु कर पन करि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।

इतने दिनों तक जो कुछ होना था हो चुका, मैं बहुत कुछ खो चुका। अब तो मैं अपने को नष्ट नहीं करूंगा। रामचन्द्र की कृपा से अब संसार रूपी निशाकाल व्यतीत हो गया। अब तो मैं जाग चुका। अब मैं फिर मोह-निद्रा में पड़ने का नहीं। अब मुझे नाम रूपी चिन्ता-मणि की प्राप्ति हो गई है। अब उसे खोऊंगा नहीं। अभी तक मुझे मन का दास समझकर इन्द्रियां हंस रही थीं अब मैं उपहास का पात्र नहीं बनूंगा। अब मैं स्वतन्त्र हूँ, मन की पराधीनता से छूट गया हूँ। अब तो मैं भगवान् के श्याम रूप रूपी कसौटी पर अपने चित्त को कसता रहूंगा, जिससे उसकी विशुद्धि की परीक्षा होती रहे। अब तो मेरा मन भौंरे की भांति भगवान् के चरण-कमलों में ही निवास करेगा।

माधव अब न द्रवहु केहि लेखे।
प्रणतपाल प्रण तोर मोर प्रण जिअऊं कमलपद देखे।
जब लगि मैं न दीन दयालु हैं मैं न दास हैं स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं यद्यपि अन्तर्यामी।
तैं उदार मैं कृपण पतित मैं तैं पुनीत श्रुति गावै।
बहुत नात रघुनाथ तोहि मोंहि अब न तजै बनि आवै।
जनक जननि गुरुबन्धु सुदय पति सब प्रकार हितकारी।
द्वैत रूप तम कूप परौ नहिं अस कछु यतन विचारी।
सुन अदम कराया वारिज लोचन मोचन मम माहीं।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकाश बिनु संशय टरै न टारी।

हे नाथ, बतलाओ अब तुम मुझ पर किस कारण कृपा नहीं करते। तुम्हारा ता प्रण है कि तुम विनीत भक्तों का पालन करोगे। मेरा भी प्रण है कि मैं तुम्हारे चरणों के दर्शन से ही जीवन धारण करूंगा। भला अब तुम मुझे कैसे छोड़ सकते हो तुमसे तो मेरा दृढ़ सम्बन्ध हो गया है। मैं दीन हूँ, तुम दयालु हो, मैं दास हूँ, तुम स्वामी हो। मैं कृपण हूँ, तुम उदार हो। मैं पतित हूँ, तुम पुनीत हो। तुम्हीं पिता, माता, गुरु, भाई, मित्र, स्वामी और हित करने वाले हो। अब वही यत्न करो जिसमें मुक्ति हो।

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
जो गति योग विराग यत्न करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी।
सो गति देत गिद्ध रावरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी।
जो सम्पति दशशीश अर्पि करि रावण थित पहँ लीनी।
सो सम्पदा विभीषण कहँ अति सकुच सहित हरि दीनी।
तुलसीदास सब भाँति सरल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम काम सब पूरण करैं कृपानिधि तेरो।

ऐसा कौन उदार है जो बिना सेवा के ही दीनों पर कृपा करे। जो अवस्था बड़े बड़े मुनियों को दुर्लभ है उसे गीध और शवरी को देते हुए प्रभु को संकोच हुआ। जिस सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए रावण को अपने दसों सिर देने पड़े वही सम्पत्ति राम ने बड़े संकोच से विभीषण को दी। अरे मन, अगर सुख चाहते हो तो राम को भज। वही सब इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं।

कब हुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत स्वभाउ गहौंगो।
यथा लाभ सन्तोष सदा काहूसों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसत श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन पर गुण अवगुण न कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति कहौंगो।

अब कब तक इसी ढंग से रहूंगा। अब तो मैं भी भगवान् की कृपा से सज्जनों का स्वभाव स्वीकार करूंगा। जो मिलेगा उसी से सन्तोष करूंगा। किसी से कुछ नहीं चाहूंगा। दूसरे के उपकार में ही लगूंगा। कठोर बचन सुन लूंगा और क्रोध नहीं करूंगा। मान अपमान के भाव से पृथक् होकर हृदय में अब सम भाव रक्खूंगा। देह की चिन्ता छोड़ दूंगा। इसी पथ पर रहकर भगवान् की अचल भक्ति पाऊंगा।

राम चरित मानस हिन्दी साहित्य का सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसमें कविता की दो धारायें स्पष्ट दिखाई देती हैं, एक तो ज्ञान की धारा है और दूसरी है सौन्दर्य की धारा।

पहली का लक्ष्य है। वह मनुष्य जीवन के अन्तसाध्य की परीक्षा करती है, उसके दोषों, उसकी निस्सारता, उसकी दुर्बलता और उसके मिथ्या अंश को प्रकट करती है। इसीलिए राम चरित मानस केवल काव्य नहीं, नीति का भी ग्रन्थ है। उसमें ज्ञान और प्रेम, सत्य और सौन्दर्य का विलक्षण सम्मिलन हुआ है। तुलसीदास जी ने उन भावों का वर्णन किया है जो मनुष्य-मात्र के जीवन में पाये जाते हैं। परन्तु उन भावों को उन्होंने आदर्श रूप में ही व्यक्त किया है। पिता, माता, भ्राता पति और पत्नी के सभी सम्बन्ध राम-चरित्र में आदर्श रूप में विद्यमान है। पर उनके मनो भावों को प्रकट करते समय तुलसीदास जी यह कभी नहीं भूल सके हैं कि भगवान् रामचन्द्र साक्षात् ईश्वर हैं और लोक-मर्यादा की रक्षा के लिए वे पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। इसी से प्रेम और वियोग की बातों को उन्होंने बड़ी कोमलता से प्रकट किया है। संयम और धैर्य दोनों पद पद में प्रकट होते हैं। क्योंकि

विप्रधेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनू माया गुन गोपार।
व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण विगत विनोद—
सो अज प्रेम भगति वस कौशल्या के गोद।

उसी अज, निर्गुण, निराकार ब्रह्म को कौशल्या की गोद में बालक-रूप में आना पड़ा। और तब उनकी रूप-मधुरिया की कल्पना कीजिए। फिर वे युवा हुए, ताड़का सँहार किया और सीता-स्वयम्वर गये। वहाँ जनक-वाटिका में—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि।
मानहुं मदन दुंदवी दीन्ही।
मनसा विश्व विजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।
सिय मुख लखि भए नयन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।

तब उन्होंने कहा—

रघु बंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मन कुपंथ पगु धरैं न काऊ।
मोहि अति सय प्रतीति मन केरी।
जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी।
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी।
नहिं लावहि पर तिय मनु डीठी।

अर्थात् यह मेरा मानसिक क्षोभ ही इस बात की सूचना देता है कि सीता जी ही मेरी धर्म पत्नी होगी। नहीं तो यह प्रेम-भाव हो ही नहीं सकता।

अब सीता जी की अवस्था देखिए—

चितवति चकित चहूं दिशि सीता।
कहँ गये नृप किशोर मनु चिन्ता।
जहँ विलोकि मृग सावक नयनी।
जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी।
लता ओट तब सखिन लखाए।
श्यामल गौर किशोर सुहाए।
देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहचाने।

थके नयन रघुपति छबि देखे।
पलकन्हि हू परि हरी निमेखे।
अधिक सनेह देह भइ भोरी।
सरद शशिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहिं उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी।
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥
लता भवन तें प्रगट भये तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु जलद पटल बिलगाइ॥

नेत्रों से ग्राह्य सौन्दर्य हृदय में निवास कर लेता है और तब मेघ-पटल से निर्मुक्त चन्द्रमा की भांतिउसमें पहले से अधिक निर्मलता, रमणीयता आ जाती है।

जिस रूप को देखकर सीता जी विमुग्ध हो गई थीं उसका भी दर्शन कर लीजिए—

सोभा सींव सुभग दोउ वीरा।
नील पीत जल जात सरीरा।
मोर पंख सिर सोहत नीके।
गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के।
भाल तिलक श्रम बिन्दु सुहाए।
श्रवब सुभग भूषण छबि छाए।
बिकट भृकुटि कच घूंघर वारे।
नव सरोज लोचन रतनारे।
चारु चिबुक नासिका कपोला।
हास विलास लेत मनु मोला।

उर मनिमाल कंबु कल ग्रीवाँ।
काम कलभ कर भुजबल सीवाँ।
सुमन समेत बाम कर दोना।
साँवर कुँवर सखी सुठि लोना।
केहरि कटि पट पीत धर सुखमा सील निधान।
देखि भानु कुल भूषनहिं बिसरा सखिन्ह अपान।

इसमें पुरुष का सौन्दर्य है, शौर्य है। पर सौन्दर्य और शौर्य का चित्र अङ्कित कर देने से ही तुलसीदास जी को सन्तोष नहीं हुआ। इसी से उन्होंने कहा कि श्री रामचन्द्रजी सम्पूर्ण सुषुमा और शील के निधान थे। इस प्रकार तुलसीदास जी ने इसमें सौन्दर्य की तीनों अवस्थाओं का वर्णन कर दिया है। हम नेत्रों से बाह्य सौन्दर्य को देखते हैं, हृदय में उसकी छबि को धारण करते हैं और बुद्धि से अनन्त सौन्दर्य का आभास पा जाते हैं। नेत्रों के ग्राह्य सौन्दर्य से इन्द्रिय की तृप्ति होती है, हृद्गम्य सौन्दर्य से हृदय तुष्ट होता है और बुद्धि के द्वारा सौन्दर्य का निर्मलतम रूप प्रकट होता है। पहले से मोह, दूसरे से प्रेम और तीसरे से भक्ति और तन्मयता होती है। सीता जी के प्रेम में सर्वत्र सुशीलता, लज्जा और सङ्कोच है। उसमें आवेग नहीं, गम्भीरता है। लज्जा और सङ्कोच तो यहां तक है कि पार्वती जी से प्रार्थना करते समय भी वे अपने मनोभाव को स्पष्ट नहीं कह सकतीं—

पति देवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न कहि सकहिं सहस सारदा सेख।
सेवत तोहिं सुलभ फल चारी।
बर दायिनि त्रिपुरारि पियारी।

देवि पूजि पद कमल तुम्हारे।
सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे।
मोर मनोरथ जानहु नीके।
बसहु सदा उर पुर सबही के।
कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही।
असि कहि चरन गये वैदेही।

सीता जी का रूप वर्णन करते समय तुलसीदास जी ने यह सदैव ध्यान में रक्खा है कि वे जगदम्बा का रूप-वर्णन कर रहे हैं। यह रूप इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, यह कल्पना के भी अतीत है। यह तो केवल, प्रेम, भक्ति और साधना से ही लभ्य है।

सिय सोभा नहिं जाय बखानी।
जगदम्बिका रूप गुण खानी।
उपमा सकल मोहि लघु लागी।
प्राकृत नारि अंग अनुरागी।
सीय वरनि तेहि उपमा देई।
कुकवि कहाइ अजस को लेई।
जौ पट तरिय तीय महुं सीया।
जग अस जुवति कहां कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनुपति जानी।
विष बारुनी बन्धु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि वैदेही।
जौ छबि-सुधा पयोनिधि होई।
परम रूप मम कच्छप सोई।

शोभा रजु मंदरु सिंगारू।
मथइ पानि पंकज निज मारू।
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय सम तूल॥

धनुष भंग के समय सीता जी की अवस्था को कुछ ही शब्दों में तुलसीदास ने बड़ी कुशलता से व्यक्त कर दिया है—

अति परिताप सीय मन माहीं।
लव निमेष जुग सय सम चलि जाहीं।
प्रभुहि चितै पुनि चितै महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु विधु मंडल डोल॥
गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी।
प्रकट न लाज निसा अव लोकी।
लोजन जल रहु लोचन कोना।
जैसे परम कृपन कर सोना।
सकुची व्याकुलता बड़ जानी।
धरि धीरज प्रतीति उर आनी।
तन मन वचन मोर पनु साँचा।
रघुपति पद सरोज चितु राँचा।
तौ भगवान सकल उर वासी।
करिहहिं मोहिं रघुबर कै दासी।
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू।

संशय और विश्वास, दुर्बलता और दृढ़ता, अधीरता और धैर्य का मत बड़ा अच्छा निदर्शन है। धनुष-भंग हुआ। विवाह हुआ। खूब उत्सव हुआ। अन्त में—

बोले राम सुअवसर जानी ।
सील सनेह सकुच मय बानी ।
राउ अवधपुर चहत सिधाए ।
बिदा होन हम इहाँ पठाए ।
मातु मुदित मन आयसु देहू ।
बालक जानि करब नित नेहू ।
सुनत वचन बिलखेउ रनिवासू ।
बोलि न सकहिं प्रेम बस सासू ।
हृदय लगाय कुअँरि सब लीन्ही ।
पतिन्ह सौंपि विनती अति कीन्हीं ।

करि विनय सिय रामहिं समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै ।
बलि जाऊं तात सुजान तुम्ह कहँ विदित गति सबकी अहै ।
परिवार पुरजन मोंहि राजहिं प्रान प्रिय सिय जानिबी ।
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानिबी ।

फिर अयोध्या में आनन्द का समुद्र उमड़ आया। पर कुछ ही समय के बाद श्री रामचन्द्र जी को पितृ-वचन की रक्षा करने के लिए वन-गमन करना पड़ा। उन्होंने सीता जी को साथ जाने से रोका। तब सीता जी ने—कहा

बन देबी बन देव उदारा ।
करिहहिं सासु ससुर सम प्यारा ।
कुस-किसलय-साथरी सुहाई ।
प्रभु संग मंजु मनोज तुराई ।
कंद मूल फल अमित अहारू ।
अवध-सौध-सत सरिस पहारू ।
छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी ।
रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी ।

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे ।
भय बिसाय परिताप घनेरे ।
प्रभु वियोग लव लेस समाना ।
सब मिलि होंहि न कृपा निधाना ।
अस जिय जानि सुजान सिरोमनि ।
लेइअ संग मोहि छाँडिअ जनि ।
विनती बहुत करौं का स्वामी ।
करुणामय उर अन्तर यामी ।
राखिय अवध जो अवधि लगि रहत जानि अहिं प्रान ।
दीन बन्धु सुन्दर सुखद सील सनेह निधान ।
मोहि मग चलत न होइहि हारी ।
छिन छिन चरन सरोज निहारी ।
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं ।
मारग जनित सकल स्रम हरिहौं ।
पाय पखारि बैठि तरु छाँहीं ।
करिहौं बाउ मुदित मन माँहीं ।
स्रम कन सहित स्याम तनु देखे ।
कहँ दुख समउ प्रान पति पेखे ।
सम महि तृन तरु पल्लव डासी ।
पाय पलोटिहि सब निशि दासी ।
बार बार मृदु मूरति जोही ।
लागिहि तात बयारि न मोही ।
को प्रभु सँग मोहि चितवनि हारा ।
सिंघ बधुहि जिमि ससक सियारा ।

अन्त में सीता जी को साथ लेना ही पड़ा और लक्ष्मण को भी । सुमंत्र कुछ दूर उनको पहुँचाने आये थे—

बर बस राम सुमंत्र पठाए।
सुरसरि तीर आप तब आए।
मांगी नाव न केवट आना।
कहै तुम्हार मरम मैं जाना।
चरन कमल रज कहँ सब कहई।
मानुष करनि मूरि कछु अहई।
छुअत सिला भइ नारि सुहाई।
पाहन तें न काठ कठिनाई।
तरनिउं मुनि घरनी होइ जाई।
बाट परै मोरि नाव उड़ाई।
एहि प्रतिपालउं सब परिवारू।
नहिं जानौं कछु और कबारू।
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू।
मोहिं पद पदुम पखारन कहहू।

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब सांची कहौं।
बरु तीर मारहु लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं।
सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहंसे करुना ऐन चितै जानकी लषन तन।

इसके बाद राम, सीता और लक्ष्मण एक गांव से दूसरे गांव, एक बन से दूसरे बन जाने लगे। जब किसी ग्राम के समीप से ये जाते तब—

एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गवांइय छिनुक श्रम गवनब अवहिं कि प्रात।

एक कलस भरि आनहिं पानी।
अँचइय नाथ कहहिं मृदु बानी।
सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी।
राम कृपालु सुसील बिसेखी।
जानो अमित सीस मन माहीं।
घरिक विलंबु कीन्ह वट छांहीं।

उस समय—

वरनि न जाइ मनोहर जोरी।
सोभा बहुत थोरि मति मोरी।
राम लषन सिय सुन्दर ताईं।
सब चितवहिं चित मन मति लाईं।
थके नारि नर प्रेम पियासे।
मनहुँ मृगी मृग देखि दियासे।
सीय समीप ग्राम तिय जाहीं।
पूँछत अति सनेह सकुचाहीं।
बार बार सब लागहिं पाएँ।
कहहि वचन मृदु सरल सुभाएँ।
राजकुमारि विनय हम करहीं।
तिय सुभाय कछु पूँछत डरहीं।
स्वामिनि अविनय छमबि हमारी।
विलगु न मानव जानि गवाँरी।
राजकुँअर दोउ सहज सलोने।
इन्हते लहि दुति मरकत सोने।
स्यामल गौर किसोर वर सुन्दर सुखमा ऐन।
सरद सर्वरी नाथ मुख सरद सरोरुह नैन॥

कोटि मनोज लजावनि हारे।
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।
सुनि सनेह मय मंजुल बानी।
सकुची सीय मनहुं मुसकानी।
तिनहिं विलोकि विलोकत धरनी।
बोली मधुर बचन पिक वयनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे।
नाम लषन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन विधु अंचल ढांकी।
पिय तन चितै भौंह कर बांकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि।
भईं मुदित सब ग्राम वधूटी।
रकन्ह राय रासि जनु लूटी।

अति सप्रेम सिय पायँ परि बहु विधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस॥

फिर भगवान् ने दण्डकारण्य में पर्ण-कुटी बनाकर निवास किया। वहीं सूर्पनखा आई खर-दूषण से घोर युद्ध हुआ। सब निसाचर मारे गये। तब रावण कपट वेष धारण कर सीता जी को हर ले गया। श्री रामचन्द्र और लक्ष्मण उन्हीं को ढूंढ़ते २ पम्पा सर पहुंचे।

पुनि प्रभु गये सरोवर तीरा।
पँपा नाम सुभग गँभीरा।
सन्त हृदय जस निर्मल बारी।
बांधे घाट मनोहर चारी।

जहँ तहँ पियहिं विविध मृग नीरा ।
जनु उदार गृह जाचक भीरा ।

पुरइन सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म ।
माया छन्न न देखिअ जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥

सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माँहिं ।
जथा धर्म सीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं ॥

विकसे सरसिज नाना रंगा ।
मधुर मुखर गुंजत बहु भृङ्गा ।
बोलत जल कुक्कुट कल हंसा ।
प्रभु विलोकि जनु करत प्रसंसा ।
चक्र वाक वक खग समुदाई ।
देखत बनै बरनि नहिं जाई ।
सुन्दर खग गन गिरा सुहाई ।
जात पथिक जनु लेत बोलाई ।
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए ।
चहुँ दिसि कानन विटप सुहाए ।
चंपक वकुल कदंब तमाला ।
पाटल पनस पलास रसाला ।
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना ।
चंचरीक पटली कर गाना ।
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ ।
संतत बहै मनोहर बाऊ ।
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं ।
सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ।

फल भर नम्र विटप सब रहे भूमि निअराइ ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसम्पति पाइ ।

तुलसीदास जी की प्रकृति वर्णन अन्य कवियों से सर्वथा भिन्न है। इस भिन्नता का कारण हमें यह प्रतीत होता है कि तुलसीदास जी भक्त थे, संसार से उनका सम्बन्ध छूट गया था। वे जिस रूप-सागर में निमग्न थे उसकी तुलना प्रकृति में तो है नहीं। अतएव प्रकृति के विकास में उन्होंने विरक्त की तरह उन्हीं सत्यों का अनुभव किया जो संसार में प्रत्यक्ष है। वियोग-व्यथा से पीड़ित श्री रामचन्द्र जी वर्षा काल का आगमन होने पर कहते हैं—

दामिन दमकि रही घन माहीं।
खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं।
बरषहिं जलद भूमि नियराये।
जथा नवहिं बुध विद्या पाये।
बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के बचन सन्त सह जैसे।
क्षुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहु धन खल इतराई।
भूमि परत भा डाबर पानी।
जिमि जीवहि माया लपटानी।
सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा।
जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।
सरिता जल जलनिधि महँ जाई।
होहि अचल जिमि जीव हरि पाई।

हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहि नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद तें लुप्त होहिं सद ग्रन्थ।
कबहुँ प्रबल चल मारुत जहँ तहँ मेघ विलाहिं।
जिमि कपूत के ऊपजे कुल सद्धर्म नसाहिं।

कबहुँ दिवस महँ निबिड तम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसै उपजै ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग।

इसी प्रकार वियोगिनी सीता जी के मनो भावों को हनूमान जी ने कितने अच्छे ढंग से प्रकट किया है—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हारा कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट।

चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही।
रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही।
नाथ जुगल लोचन भरि बारी।
वचन कहे कछु जनक कुमारी।
अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।
दीन बन्धु प्रनतारति हरना।
मन क्रम वचन चरन अनुरागी।
केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।
अवगुन एक मोर मैं माना।
बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा।
निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।
विरह अगिनी तनु तूल समीरा।
स्वास जरै छन माँह सरीरा।
नयन स्रवहि जल निज हित लागी।
जरै न पाव देह विरहागी।
सीता कै अति विपति विसाला।
बिनहिं कहे भलि दीन दयाला।

निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।
वेगि चलिअ प्रभु अनिय भुजबल खलदल जीति।

(तुलसीदास जी ने सभी रसों पर भक्ति-रस का सिञ्चन कर दिया है। शृङ्गाररस में भक्ति का समिश्रण होने से एक अपूर्व कोमलता आगई है, करुण-रस में गम्भीरता आ गई और वीर, रौद्र और वीभत्स रस में शान्ति की धारा बह गई है। युद्ध-स्थल में भगवान् का रूप लोकाभिराम है)—

देव वचन सुनि प्रभु मुसकाना।
उठि रघुवीर सुधारे बाना।
जटाजूट दृढ़ बांधे माथे।
सोहहिं सुमन बीच बिच गाँथे।
अरुन नयन वारिद तनु स्यामा।
अखिल लोक लोचन अभिरामा।
कटि तट परिकर कसउ निषंगा।
कर को दंड कठिन सारंगा।

सारंग कर सुन्दर निषंग सिली मुखाकर कटि कस्यौ।
भुज दंड पीन मनोह रायत उर धरा सुर पद लस्यौ।
कह दास तुलसी जबहिं प्रभु सर चाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे।

युद्ध क्या है मानों वर्षाकाल में प्रकृति का विलास है—

देखि चले सनमुख कपि भट्टा।
प्रलय काल के जनु घन घट्टा।
बहु कृपान तरवारि चमक्कहिं।
जनु दस दिसि दामिनी दमक्कहिं।
गजरथ तुरग चिकार ककोरा।
गर्जहिं मनहुं बलाहक घोरा।

कपि लंगूर विपुल नभ छाए।
मनहुँ इन्द्र धनु उए सुहाए।
उठी धूरि मानहुँ जल धारा।
बान बुन्द भइ दृष्टि अपारा।
दुहुँ दिसि पर्वत करहिं प्रहारा।
वज्र पात जनु बारहिं बारा।
रघुपति कोपि बान झरि लाई।
घायल भइ निसिचर समुदाई।
लागत बान बीर चिक्करहीं।
घुर्मि घुर्मि जहँ तहँ महि परहीं।
स्रवहिं सैल जनु निर्झर बारी।
सोनित सरि कादर भयकारी।

कादर भयंकर रुधिर सरिता चली परम अपावनी।
दो कूल दल रथ रेत चक्र अबर्त्त बहति भयावनी।
जल जंतु गज पद चर तुरग खर विविध बाहन को गने।
सर सक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने।

अन्त में रावण का वध हुआ। भगवान् अयोध्या लौट आए। उनका राज्याभिषेक हुआ। देवों का कार्य समाप्त हुआ। पृथ्वी पर फिर सत्य की प्रतिष्ठा हुई। धरा-धाम स्वर्ग-तुल्य हो गया।

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।
रहहिं एक सँग गज पंचानन।
खग मृग सहज बयरु बिसराई।
सबहि चराचर प्रीति बढ़ाई।
कूजहिं खग मृग नाना बृन्दा।

अभय चरहिं बन करहिं अनन्दा ।
सीतल सुरभि पवन बह मंदा ।
गुंजत अलि लइ चलि मकरन्दा ।
लता विटप मांगे मधु चवहीं ।
मन भावतो धेनु पय स्रवहीं ।
सस सम्पन्न सदा रह धरनी ।
त्रेता भइ कृत जुग कै करनी ।
प्रगटी गिरिन्ह विविध मनि खानी ।
जगदातमा भूप जग जानी ।
सरिता सकल बहहिं बरवारी ।
सीतल अमल स्वादु सुखकारी ।
सागर निज मरजादा रहहीं ।
डरिहिं रतन टटन्हि नर लहहीं ।
सरसिज संकुल सकल तड़ागा ।
अति प्रसन्न दस दिसा विभागा ।

विघ महि पूर मयूखन्हि रवि तल जितनहि काज ।
मांगे बारिद देहिं जल रामचन्द्र के राज ।

इसीलिए—

पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठमना ।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना ।
आभीर यवन किरात सब स्वपचादि अति अघरूप जे ।
कहि नाम बारक तेऽपि पावन होंहि राम नमामि ते ।

भक्त कवियों में नन्ददास जी की भी रचना बड़ी मनोहर है। हिन्दी में उनका भ्रमर गीत विशेष प्रसिद्ध है। लोगों में यह प्रसिद्ध है कि नन्ददास जी तुलसीदास जी के

भाई हैं। सभी भक्त-कवियों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार की कथा प्रचलित है। सभी के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे पहले किसी स्त्री के प्रेम में पड़कर अपनी बुद्धि खो चुके थे। उसके बाद किसी के उपदेश से या अन्य किसी घटना विशेष से उनके हृदय में भगवद्भक्ति का सहसा प्रादुर्भाव हुआ और वे भगवान् के अनन्य भक्त हो गये। इन कथाओं की घटनायें भले ही सच न हों, पर उनमें प्रेम और भक्ति का यथार्थ रहस्य छिपा है। जब धर्म का चरम लक्ष्य ईश्वर से मिलन होता है तब साधना की गति रस की ओर होती है। हृदय में पहले प्रेम-रस का लक्ष्य सम्भोग की ओर होता है. उसकी ओर चित्त को प्रेरित करने से दुर्बलता और विकार उत्पन्न होते हैं। मनुष्यत्व दुर्गति को प्राप्त होता है। जब उसकी निस्सारता हृदय में अङ्कित हो जाती है। तब प्रेम अपने यथार्थ रूप में प्रकट होता है। तब उसका लक्ष्य होता है योग। जब दुःख और वेदना के द्वारा प्रेम का परिपाक होता है तब उसका रूप विशुद्ध हो जाता है। तभी समस्त विश्व से उसका सम्बन्ध हो जाता है। कोई क्षुद्र नहीं रहता, कोई हेय नहीं रह जाता है। तब सभी को प्रेमी अपना लेता है। इसी से प्रेम का यथार्थ परिचय हमें होता और सहानुभूति में मिलता है, मायावेश में नहीं। जिस प्रेम का भाविसान निष्क्रिय मायावेश में होता हैं वह विकार मात्र है। भक्त-कवियों ने भगवद्-प्रेम में आत्म-समर्पण और तल्लीनता का ही वर्णन किया है। इसका कारण यह है कि उन्हों ने सदैव भाव को प्रधानता दी है, मान को नहीं है। भाव के अनुकूल तो क्रिया होगी ही। आधुनिक साहित्य में क्रिया की प्रधानता है। राधा के वर्णन में प्राचीन कवियों

ने सदैव उनके प्रेम-भाव को ही अङ्कित किया है। परन्तु आधुनिक साहित्य में अयोध्या सिंह उपाध्याय जी ने राधा की समाज-सेवा को विस्तार-पूर्वक लिखा है—

संलग्ना हो विविध कितने सान्त्वना-कार्य में भी।
वे सेवा थीं सतत करती वृद्ध, रोगी जनों की।
दीनों, हीनों, निर्बल, विधवा आदि को मानती थीं।
पूजी जाती अवति व्रज में देवि-तुल्या अत: थीं।
खो देती थीं कलह जनिता आधि के दुर्गुणों को।
धो देती थीं मलिन मन की व्यापिनी कालिमायें।
बो देती थीं हृदय-तल में बीज भावज्ञता का।
वे थीं क्लेशों-दलित गृह में शान्ति-धारा बहाती।
आटा चींटी, विहग गन थे वारि औ अन्न पाते।
देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि में भी।
पत्तों को भी न तरुगन के वे वृथा तोड़ती थीं।
जी से वे थीं निरत रहती भूत-संवर्धना में।
वे छाया थीं सुजन-शिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं, औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थी भगिनी, जननी थी अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं अवनि व्रज की प्रेमिका विश्व की थीं।
जैसा व्यापी दुसह दुख था गोप-गोपांगना का।
वैसी ही थीं सदय-हृदया स्नेह की मूर्ति राधा।
जैसी मोहों-वलित व्रज में तामसी रात आई।
वैसी ही वे लसित उसमें कौमुदी के समा थीं।

परन्तु भक्त-कवियों के लिए राधा का यह आदर्श सर्वथा विपरीत है। यह तो उद्धव के ज्ञानोपदेश का अनुसरण करना है। गोपियों के लिए तो एक-मात्र कृष्ण सत्य थे,

बाकी सब मिथ्या। उन्हीं के ध्यान में वे सदैव मग्न रहती थीं। उनका तो यह कथन था कि मथुरा में रहने वाले गोविन्द कोई दूसरे ही हैं। हमारे गोविन्द तो हमसे पृथक नहीं हैं, वे हम में ही हैं। वियोग की व्यथा तो उन्हें इष्ट ही थी। उनका रोम रोम प्रेम की पिपासा से व्याकुल होकर पुकार रहा है हे कृष्ण हमारे हृदय में भाव घन की घटा छाकर रस-वर्षा न करो। हमारी समस्त देह रसना होकर तुमको आस्वादन करना चाहती है, वाणी होकर तुम्हारा ही यशोगान करना चाहती है, नेत्र होकर तुम्हारे ही रूप को देखना चाहती हैं। यही नन्ददास जी के प्रसिद्ध भ्रमर गीत का भी उद्देश्य है।

ऊधव को उपदेस सुनो व्रज नागरी।
रूप सील लावन्य सबै गुन आगरी।
प्रेम धजा रस रूपिनी उपजावत सुख-पुंज।
सुन्दर स्याम विलासिनी नव वृन्जावन कुंज।
सुनो व्रज नागरी।

कहन स्याम संदेस एक मैं तुम पै आयो।
कहत समै संकेत कहूँ अवसर नहि पायो।
सोचत ही मन में रह्यो कब पाऊँ इक ठाऊँ।
कहि संदेस नँदलाल को बहुरि मधुपुरी जाऊँ।
सुनो व्रज नागरी।

जो उनके गुन होय वेद क्यों नेति बखानैं।
निरगुन सगुन आतमा रचि ऊपर सुख सानैं।
वेद पुराननि खोजि कै पायो कितहुँ न एक।
गुन ही के गुन होहिते कहो अकासहि टेक।
सुनो व्रज नागरी।

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहां ते।
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहो कहां ते।
वा गुन की पर छांह री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये अमल बारि जल कीच।
सखा सुन स्याम के।

प्रेम जु कोई वस्तु रूप देखत लौ लागै।
वस्तु दृष्टि बिन कहौ कहा प्रेमी अनुरागै।
तरनि चन्द्र के रूप को गुन गहि पायो जान।
तौ उनको मत जानिये गुनातीत भगवान।
सुनो ब्रज नागरी।

तरनि अकास प्रकास तेजमय रह्यो दुराई।
दिव्य दृष्टि को रूप भले वह देख्यो जाई।
जिनकी वे आंखें नहीं देखें कब वह रूप।
तिन्हैं सांच क्यों ऊपजै परे कर्म के कूप।
सखा सुन स्याम के।

जो गुन आवै दृष्टि माँझ नहिं ईश्वर सारे।
वे सब इनतें वासुदेव अच्युत हैं न्यारे।
इन्द्री दृष्टि विकार तें रहत अधोमत जोति।
सुद्ध सरूपी जान जिय तृप्ति जु तातें होति।
सुनो ब्रज नागरी।

नास्तिक जेते लोग कहा जानैं हिन रूपै।
प्रगट भानु को छांडि गहै पर छांही धूपै।
हमरे तुम्हरे रूप ही और न कछू सहाय।
ज्यों करतल आभास को कोटिक ब्रह्म दिखाय।
सखा सुन श्याम के।

ताही छिन इक भंवर कहुँते ही उड़ि आयो।
ब्रज बनितन के गुंज माहिं गुंजत छबि छायो।
चड़यो चहत पग पगनि पर अरुन कमलदल जानि।
मनु मधुकर ऊधो भयो प्रथमहि प्रगटयो आनि।
मधुप को भेष धारि।

कोई कहै के मधुप भेस उनही को धारयो।
श्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झन कारयो।
वापुर गोरस चोरि कै फिरि आयो यहि देस।
इनको जनि मानहुँ कोऊ, कपटी इनको भेस।
देखि है आरसी।

कोउ कहै रे मधुप कहा तू रस को जानै।
बहुत कुसुम पै बैठि सबै आपन सम मानै।
आपन सम हमको कियो चाहत है मतिमन्द।
दुविध ग्यान उपजाय के दुखित प्रेम आनन्द।
कपट के छन्द सो।

कोऊ कहै रे मधुप प्रेम षट पद पसु देख्यो।
अब लौं यह ब्रज देस माहिं कोउ नाहीं बिसेख्यो।
द्वै सिंग आनन उपर रे कारो पीरो गात।
खल अमृत सम मानही अमृत देखि डरात।
बादि यह रसिकता।

कोउ कहै रे मधुप ग्यान उलटौ लै आयो।
मुक्ति परे जे फेरि तिन्हे पुनि करम बतायो।
बेद उपनिषद सार जे मोहन गुन गहि लेत।
तिनके आतम शुद्ध करि फिरि करि संथा देत।
जोग चटसार मैं।

जो ऐसी मरजाद देखि मोहन को ध्यावैं ।
काहि न परमानन्द प्रेम पद पी को पावैं ।
ग्यान जोग सब करम ते प्रेम परे ही साँच ।
यों यह पटतर देत हौं हीरा आगे काँच ।
विषमता बुद्धि की ।
धन्य धन्य जे लोग भजत हरि को जो ऐसे ।
अस जो पारस प्रेम बिना पावत कोउ कैसे ।
मेरे या लघु ग्यान को उर मय कहयो उपाध ।
अब जान्यौ ब्रज प्रेम को लहत न आधौ आध ।
वृथा श्रम करि थके ।
करुना मई रसिकता है तुम्हरी सब झूठी ।
जब ही उहों नहिं लखो तबहि लौं बांधी मूठी ।
मैं जान्यो ब्रज जाय कै तुम्हरो निर्दय रूप ।
जो तुमको अबलम्ब ही बाको ये तो कूप ।
कौन यह धर्म है ।
पुनि पुनि कहैं जु गाय चलौ वृन्दावन रहिये ।
प्रेम पुञ्ज को प्रेम जाय गोपिन सँग लहिये ।
और काम सब छाँड़ि कै उन लोगन सुख देहु ।
नातरु टूट्यो जात है अब ही नेह सनेहु ।
करौगे तो कहा ।
सुनत सखा के बैन नैन भरि आये दोऊ ।
विवस प्रेम आवेस रहो नाहीं सुधि कोऊ ।
रोय रोम प्रति गोपिका ह्वै रहे साँवल गात ।
कल्प तरोरुह साँवरो ब्रज बनिता भई पात ।
उलहि अँग अँग ते ।

पञ्चम परिच्छेद

[१]

तने ही विद्वानों की राय है कि जातीय अभ्युदय से ही साहित्य का अभ्युदय होता है। भारतीय इतिहास में गुप्तवंश और श्रीहर्ष के काल में साहित्य की जैसी उन्नति हुई वैसी ही उन्नति देश के ऐश्वर्य में हुई। परन्तु इस मत का समर्थन किसी प्रकार नहीं किया जाता। बात यह है कि जब किसी युग में किसी देश की जातीय आत्मा जागृत होती है तब देश में एक नवीन शक्ति फैल जाती है। यह शक्ति कितने ही रूपों में प्रकट होती है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में हिन्दू-साम्राज्य का गौरव नष्ट हो गया था। हिन्दू जाति ने मुसलमानों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। परन्तु

यह बात हमें नहीं भूल जानी चाहिए कि मुसलमानों के शासन-काल में भारतीय ऐश्वर्य पर भारतीयों का ही आधिपत्य था। देश धन-धान्य से पूर्ण था। हिन्दू-समाज में जो जीवन-धारा वह रही थी उसकी गति में मुसलमानों के शासन-काल में कोई बाधा नहीं हुई। राजनैतिक क्षेत्र में उत्क्रान्ति होने पर भी भारतीय समाज उससे क्षुब्ध नहीं हुआ। सच तो यह है कि जब जब भारतवर्ष पर विदेशियों का आक्रमण हुआ है तब तब उसने अपनी सत्य-साधना को एक नये ही रूप में प्रकट किया है। इसी से हम देखते हैं कि मुसलमानों के शासन-काल में ही हिन्दी साहित्य की विशेष वृद्धि हुई है। पर हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित नहीं हो गया। समस्त हिन्दू जाति ने—विशेषकर राजपूतों और मराठों ने—बड़ी दृढ़ता से उनका आक्रमण रोका था। मुसलमानों का पहला आक्रमण सन् ६६४ ईस्वी में हुआ। उस समय मुसलमान मुलतान तक ही आकर लौट गए। उनका दूसरा आक्रमण सन् ७११ में हुआ। तब उन्होंने सिंधु-देश पर अधिकार कर लिया था। परन्तु कुछ समय के बाद राजपूतों ने उनको वहां से हटा दिया। इसके बाद महमूद गजनवी का आक्रमण हुआ। उस समय भी मुसलमानों का प्रभुत्व यहां स्थापित नहीं हुआ सन् ११९३ से मुसलमानों का शाशन-युग-प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी दक्षिण में हिन्दू साम्राज्य बना रहा। विजयनगर का पतन हो जाने पर कुछ समय के लिये समग्र भारत पर से हिन्दू साम्राज्य का लोप होगया। परन्तु सत्रहवीं सदी में मरहठे प्रबल हुए और अन्त में उन्होंने फिर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय अँगरेजों का प्रभुत्व बढ़ा और कुछ ही समय में

हिंदू और मुसलमान दोनों को अँगरेज़ों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि भारतवर्ष में मुसलमानों का साम्राज्य सन् ११९३ से प्रारम्भ होता है तथापि कितने ही मुसलमान साधक और फकीर इन आक्रमणकारियों के पहिले ही यहाँ आ चुके थे। आठवीं सदी में जब मुसलमानों ने भारत का एक भाग विजय कर लिया तब तो हिन्दुओं और मुसलमानों में घनिष्ठता हो गई। उस समय मुसलमानों का अभ्युदय बढ़ रहा था। बगदाद विद्या का केन्द्र हो गया था। कितने ही भारतीय विद्वान खलीफा के दरबार तक जा पहुंचे। वहाँ उन लोगों की बदौलत संस्कृत के कितने ही ग्रन्थरत्नों का अनुवाद अरबी-भाषा में हुआ। भारतवर्ष में मुसलमानों ने केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित नहीं की किन्तु अपने धर्म का भी प्रचार किया। तभी हिन्दू और मुसलमान का विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोध को दूर करने का सबसे अधिक प्रयत्न किया कबीर ने। कबीर ने देखा कि भारतवर्ष में हिंदू और मुसलमान का विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोई हिंदू कोई तुरक कहावै एक जमीं पर रहिये।
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये॥
बेद किताब पढ़ें वे कुतबा वे मोलाना के पांड़े।
बिगत बिगत के नाम धरायो यक मांटी के भांड़े॥

(कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों का हाथ पकड़ कर एक ही पथ पर ले जाना चाहते थे।) परन्तु दोनों इसका विरोध करते थे। कबीर को उनकी इस मूढ़ता पर इस धर्मान्धता-पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्नि में पड़ कर दोनों नष्ट हो जायँगे।

साधो देखो जग बौराना।
सांच कहो तो मारन धावै झूठे जग पतयाना
हिंन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहिमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मूये मरम न काहू जाना
हिन्दू दया मेहर की तुरकन, दोनों घट सों त्यागी।
वैं हलाल वैं झटका मारैं, आग दोऊ घर लागी
या विधि हँसत चलत हैं हमको आप कहावै स्याना
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना।

स्वदेश की कल्याण कामना से प्रेरित हो कबीर उस पथ को खोज निकालना चाहते थे जिस पर हिंदू और मुसलमान दोनों चल कर अपनी आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिंदू एक ओर जा रहे थे और मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कबीर ने उनको चेतावनी दी—

अरे इन दोऊ राह न पाई।
हिन्दू की हिन्दुवाई देखो तुरकन की तुरकाई।
कहें कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई॥

इसीलिए कबीर ने हिंदू की हिंदुवाई और तुर्क की तुरकाई दोनों को छोड़ दिया।

हिंदू हूं तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं। उन्होंने दोनों को एक ही दृष्टि से देखा—

सम दृष्टी सतगुरु किया मेटा भरम त्रिकार।
जहं देखौं तहं एक ही साहेब का दीदार॥

सम दृष्टी तब जानिये सीतल समता होय।
सम जीवन की आतमा लखें एक भी सोय॥

कबीर का प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन होने की ओर अग्रसर हुए। भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहिले हो चुका था। अमीर खुसरो ने इस कविता की नींव को दृढ़ किया। हिंदी में कागज पत्र, शादी व्याह खत-पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलन के सूचक हैं। इसके बाद जायसी ने मुसलमानों को हिंदी-साहित्य में सौन्दर्य का दर्शन कराया।

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहिं
जेहि मंह मारग प्रेम कर सबै सराहैं ताहि

मालिक मुहम्मद का प्रसिद्ध ग्रन्थ पद्मावत है। उसमें पद्मावती और राजा रत्नसेन की प्रेम कथा वर्णित है। परन्तु उस प्रेम कथा में परम तत्त्व छिपा हुआ है—

मैं एहि अरथ पंडित न्ह बूझा।
कहा कि हम्ह किछु और न सूझा।
चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मनुष के घट माहीं।
तन चित उर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुभ जेइ पंथ देखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भांति विचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु।

अर्थात, मैंने जब इस कथा का अर्थ पण्डितों से पूछा तब उन्होंने कहा हमें तो दूसरा और कुछ सूझता। मनुष्य के शरीर में चौदहों भुवन विद्यमान हैं। शरीर ही चित्तौर है और उस तन रूपी चित्तौर गढ़ का राजा मन है। हृदय सिंघल है जहां ईश्वर से मिलाने वाली बुद्धि पद्मिनी का जन्म हुआ था। मार्ग-प्रदर्शक गुरु सुआ है। विना गुरु किसे ईश्वर की प्राप्ति संभव है। नागमती संधल का जाल है। जो इसमें बद्ध नहीं हुआ उसी का कल्याण है। राघव चेतन शैतान है और अलाउद्दीन ही माया है।

परन्तु पद्मावत का कितना ही गूढ़ अर्थ क्यों न हो, वर्णन में कथा रस का व्याघात कहीं नहीं हुआ है। फ़कीरों का गुप्त ग्रन्थ होने पर भी पद्मावत में वे सभी गुण विद्यमान हैं चिसके कारण कोई भी कथा लोक प्रिय होती है। जायसी को अपनी रचना पर विश्वास था। वे जानते थे कि उनकी यह कथा साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है।

मुहमद कबि यह जोरि सुनावा।
सुना सो पीर प्रेम कर पावा।
जोरी लाइ रकत कै लेई।
गाढ़ि प्रीति अपनन्ह जलभेई।
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा।
सकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।
कहां सो रतन सेन अब राजा।
कहां सुआ अस बुधि उपराजा।
कहां अलाउदीन सुलतानू।
कहँ राघव जेई कीन्ह बखानू।

कहँ सुरूप पदमावति रानी।
कोई न रहा जग रही कहानी।
धनि सोई जग कीरति जासू।
फूल मरै पै मरै न बासू।

केइ न जगत जस बेंचा केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी हम्ह सवरै दुर बोल।

वृद्धावस्था में जायसी को कदाचित् विशेष शारीरिक कष्ट हुआ उसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

मुहमद बिरिध बैस जो भई।
जोवन हत सो अवस्था गई।
बल जो गएउ कै खीन सरीरू।
दिष्टि गई नैनहिं देइ नीरू।
दसन गए कै पचा कपोला।
बैन गए अनरुच देइ बोला।
बुधि जो गई देइ हिय बौराई।
गरब गएउ तरहुँत सिर नाई।
सरवन गए केसहि देइ सूना।
जोवन गयउ जीति लेइ जूना।
जौलहि जीवन जोवन साथा।
पुनि सो मीचु पराए हाथा।

बिरिध जो सीस डोलावै सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ी काऊ होहु तुम्ह केइ यह दीन्हि असीस॥

जायसी शेरशाह के शासन-काल में हुए थे। शेरशाह के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

सेर साहि देहली सुलतानू ।
चारिउ खंड तपै जस भानू ।
ओही छाज छात औ पाटा ।
सब राजै भुइं धरा लिलाटा ।
जाति सूर और खांड़े सूरा ।
औ बुधिवन्त सबै गुन पूरा ।
सूर नवाए नवखंड बई ।
सातउ दीप दुनी सब नई ।
तहं लगि राज खड़ग करि लीन्हा ।
इस कंदर जुल करन जो कीन्हा ।
हाथ सुलेमां केरि अंगूठी ।
जग कहं दान दीन्ह भरि मूठी ।
औ अति गरू भूमि पति भारी ।
टेकि भूमि सब गिरिहिं सँभारी ।

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज ।
बादशाह तुम जगत के जग तुम्हार मुहताज ॥

कथा की दृष्टि से पद्मावत हिन्दी का एक श्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ है। पर हिंदी में उसकी प्रचार-वृद्धि न होने का एक कारण यह है कि उसमें हिंदू जाति की विजय-गाथा वर्णित नहीं है। तो भी जिन जिन स्थलों में लौकिक-भावों का चित्रण हुआ है वे अत्यन्त मनोहर हैं। कहा जाता है कि उनके 'बारहमासा' को फकीर गाते फिरते थे। उसी के एक दोहे को सुनकरअमेठी के राजा मुग्ध हो गये और उन्होंने जायसी को बुलाकर बड़े आदर पूर्वक रखा—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा ।
साजा विरह दुन्द दल बाजा ।
धूम साम धौरे घन धाये ।
सेत धजा वगपांति देखाये ।
खडग बीजु चमकै चहुं ओरा ।
बुन्द बान बरसहिं घन घोरा ।
ओनई घटा आई चहुँ फेरी ।
कस उबारु मदन हैं, घेरी ।
दादुर मोर कोकिला पीऊ ।
गिरै बीजु घट रहै न जीऊ ।
पुष्प नखत सिर उपर आवा ।
हौं बिनु नाह मंदिर को छावा ।
अद्रा लाग लागि भुइँ लेई ।
मोहिं बिनु पिउ को आदर देई ।

जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारौ औ गर्व ।
कन्त पियारा बाहिरै हम सुख भूला सर्व ।

सावन बरस मेह अति पानी ।
भरनि परी हौं विरह झुरानी ।
लाग पुनरवसु पीउ न देखा ।
भइ वाउरि कहं कंत सरेखा ।
रकत कै आंसु परहिं भुइँ टूटी ।
रेंगि चलीं जस बीर बहूटी ।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला ।
हरियरि भूमि कुसंभी चोला ।
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा ।
विरह झुलाइ देइ झकझोरा ।

बाट असूझ अथाह गँभीरी ।
जिउ बाउर भा फिरै भँभीरी ।
जग जल बूढ़ जहां लगि ताकी ।
मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ।

परवत समुद अगम बिच बीहड़ पन मन ढाँख ।
किमि कै भेटों कन्त तुम्ह ना मोंहिं पांव न पांख ।

भा भादौं दुभर अतिभारी ।
कैसे भरौं रैनि अंधियारी ।
मँदिर सून पिउ अनतै बसा ।
सेज नागिनी फिरि फिरि डसा ।
रहौं अकेलि गहे एक पाटी ।
नैन पसारि मरौं हिय फाटी ।
चमक बीजु घन गर्राज तरासा ।
विरह काल होइ जीउ गरासा ।
बरसै मघा झकोरि झकोरी ।
मोरि दुइ नैन चुवैं जस ओरी ।
धनि सूखै भरे भादौं माहां ।
अबहुं न अयन्हि सींचेन्हि नाहां ।
पुरवा लाग भूमि जल पूरी ।
आक जवास भई तस झूरी ।

जल थल भरे अपूर सब धरति गगन मिलि एक ।
धनि जोवन अवगाह महँ दे बूड़न पिउ टेक ।

लाग कुंवार नीर जग घटा ।
अबहूं आउ कन्त तन फटा ।

तोहि देखे पिउ पलुहै कथा।
उतरा चित्त बहुरि कस मथा।
चिन्ता मित्र मीन कर आवा।
पपिहा पीउ पुकारत पावा।
उआ अगस्त हस्ति-घन गाजा।
तुरय पलानि चढ़े रन राजा।
स्वाति बूँद चातकमुख परे।
समुद सीप मोती सब भरे।
सरवर सँवरि हंस चलि आये।
सारस सुरलहिं खँजन देखाये।
भा परगास कांस बन फूले।
कन्त न फिरे विदेसहि भूले।

विरह-हस्ति तन सालै धाय करै चित चूर।
वेगि आइ पिउ वाजहु गाजहु होइ सदूर।

कातिक सरद चंद उजियारी।
जग सीतल हौं विरहै जारी।
चौदह करा चांद परगासा।
जनहुं जरै सब धरति अकाशा।
तन मन सेज करै अगि दाहू।
सब कहँ चंद भएउ मोहिं राहू।
चहूं खण्ड लागै अंधियारी।
जौ घर नाहीं कन्त पियारा।
अबहूं निठुर आउ एहि वारा।
परब देवारी होइ संसारा।
सखि झूमक गावैं अंग मोरी।
हौं झुरावँ विछुरी मोरि जोरी।

जेहि घर पिउ सो मनोरथ पूजा।
मो कहँ विरह सवति दुख दूजा।
सखि मानैं तिउहार सब गाइ देवारी खेलि।
हौं का गावौं कन्त बिनु रही छार सिर मेलि।

अगहन दिवस घटा निसि बाढ़ी।
दूभर रैनि जाइ किमि गाढ़ी।
अबधनि विरह दिवस भा राती।
जरौं विरह जसु दीपक बाती।
काँपै हिया जनावै सीऊ।
तौ पै जाइ होइ सग पीऊ।
घर घर चीर रचे सब काहू।
मोर रूप रंग लेइगा नाहू।
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई।
अब हूँ फिरै फिरै रंग सोई।
वज्र आगिनि बिरहिनि हिय जारा।
सुलुगि सुलुगि दगधै होइ छारा।
यह दुख दगध न जानै कन्तू।
जोवन जनम करै भस मन्तू।
पिउ सौं कहेहु संदेसड़ा हे भौंरा हे काग
तो धनि विरहै जरि मुई तेहिक धुवाँ हम लाग।

पूस जाड़ घर पर तन कांपा।
सुरुज जाइ लंका दिसि चाँपा।
विरह बाढ़ दारुन भा सीऊ।
कँपि कँपि मरौं लेइ हरि जोऊ।
कन्त कहां लागौं ओहि हियरे।
पंथ अपार सूझ नहिं नियरे।

सौंर सपेती आवै जूड़ी।
जानेहु सेज हिंवचल बूड़ी।
चकई निसि बिछुरै दिन मिला।
हौं दिन राति बिरह कोकिला।
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी।
कैसे जियै बिछोही पखी।
बिरह सचान भएउ तब जाड़ा।
जियत खाइ औ मुए न छांड़ा।

रकत ढुरा मांसू गरा हाड़ भएउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई पीउ समेटहि पंख

लागेउ माघ परै अब पाला।
बिरहा काल भएउ जड़काला।
पहल पहल मन रूई झाँपै।
हहरि हहरि अधिकौ हिय कांपै।
आइ सूर होइ तपु रे नाहा।
तोहि बिनु जाड़ न छूटै माहा।
एहि माँह उपजै रस मूलू।
तू सौं भौंर मोर जोबन फूलू।
नैन चुवहिं जस महवट नीरू।
तोहि बिनु अंग लाग सर चीरू।
टप टप बूंद परहिं जस ओला।
बिरह पवन होई भरै झोला।
केहिक सिंगार को पहरुं पटोरा।
जीउ न हार रही होइ होरा।

तुम बिनु कांपै धनि हिया तन तिन उर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ाना झोल।

फागुन पवन झकोरा बहा ।
चौगुन सीउ जाई नहिं सहा ।
तन जस पियर पात भा मोरा ।
तेहि पर बिरह देइ झकझोरा ।
तरिवर झरहि झरहिं बन ढाखा ।
भई आनन्द फूल फरि साखा ।
करहिं बनसपति हिये उलासू ।
मो कहं भा जग दून उदासू ।
फागु करहिं सब चांचरि जोरी ।
मोहिं तन लाइ दीन्हि जस होरी ।
जो पै पीउ जरत अस पावा ।
जरत मरत मोंहिं रोष न आवा ।
राति दिवस बस यह जिउ मोरे ।
लगौं निहोर कन्त अब तोरे ।
यह तन जारों छार कै कहौं कि पवन उड़ाव ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कन्त धरै जहं पाव ।
चैत बसन्ता होइ धमारी ।
मोहिं लेखे संसार उजारी ।
पंचम बिरह पंचसर मारै ।
रकत रोइ सगरौं बनं ढ़ारै ।
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता ।
भीजि मजीठ टेसुबन राता ।
बौरै आम फरै अब लागै ।
अबहु आन घर कन्त अभागे ।
सहस भाव फूली बनसपती ।
मधुकर घूम हिं संवरि मालती ।

मोकहं फूल भए सब कांटे।
दिस्टि परत जस लागहि चांटे।
करि जोवन भए तारंग साखा।
सुआ विरह अब जाइ न राखा।
घिरिनि परेवा होइ पिउ आउ वेगि यह टूटि।
नारि पराये हाथ है तोहि बिनु पावन छूटि।
भा वैसाख तपनि अति लागी।
चोआ चीर चंदन भा आगी।
सूरुज जरत हिवंचल ताका।
विरह-बजागि सौंह रथ हांका।
जरत बजागिनि करु पिउ छांहा।
आइ बुझाउ अंगारन्ह माहा।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी।
आइ आगि तें कस फुलवारी।
लागिउँ जरै जरै जस भारू।
फिरि भूंजेसि २ तजिउँ न बारू।
सरवस हिया घटत निति जाई।
टूक टूक होइ कै बिहराई।
विहरत हिया करहु पिउ टेका।
दीठि दवँगरा मेखहु एका।
कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहुं बेलि फिरि पक है जो पिउ सींचै थाइ॥
जेठ जरै जग चलै लुवारा।
उठहिं बबंउर परहिं अँगारा।
विरह गाजि हनुवंत होइ जागा।
लंका दाह करै तनु लागा।

चारिहु पवन झकोरे आगी ।
लंका दाहि पलंका लागी ।
दहि भइ साय नदी कालिन्दी ।
विरहक आगि कठिन अति मन्दी ।
उठै आगि औ आवै आँधी ।
नैन न सूझ मरौं दुख बांधी ।
अधजर भउऊँ माँसु तन सूखा ।
लागेउ विरह काल होइ भूखा ।
मांसु खाइ अब हाडन्ह लागै ।
अबहुं आउ आवत सुनि भागै ।

गिरि, समुद, ससि, मेघ, रवि सहि न सकहिं वह आगि ।
मुहमद सती सराहिए जरै जो अस पिउ लागि ।

मलिक मुहम्मद जायसी केवल कवि नहीं थे, साधक भी थे। हिंदू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिंदी भाषा में रचना कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू जाति से प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभास उनके अखरावट से मिलता है। अपने धर्म पर अविचल रह कर भी कोई दूसरे के धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है। यही नहीं, किन्तु वह उसमें सत्य का यथार्थ और अभिन्न रूप देख सकता है। यह बात जायसी की कृत्ति से प्रकट होती है। हिंदू भी मुसलमानों की तरह ईश्वर की सन्तान हैं। यही नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणा के पात्र नहीं हैं !

तिन्ह संतति उपराजा भांतिहि भांति कुलीन ।
हिंदू तुरक दुनौ भये अपने अपने दीन ॥

जायसी ने जो शिक्षायें दी हैं उनमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिंदू अस्वीकार कर सके। ईश्वर की सर्व व्यापकता पर उन्होंने कहा है।

जस तन तस यह धरती जस मन तइस अकास।
परम हंस तेहि मानस जइस फूल मँह बास।

जो उसका दर्शन करता चाहते हैं उन्हें अपने मन को सदैव स्वच्छ रखना चाहिये।

तन दरपन कहँ साजु दरसन देखा जो चहय।
मनसौं लीजई मांजि, महमद निरमल होइ दिआ।

उन्होंने एकत्ववाद की सदैव शिक्षा दी है—

एक कहत दुइ होय दुइसे राज न चल सकइ।
बीच तें आपहु खोय महमद एकाम्र होइ रहइ।

भोग्य और भोक्ताओं में भी उन्होंने कोई भिन्नता नहीं देखी है—

सबइ जगत दरपन कइ लेखा।
आपुहि दरपन आपुहि देखा।
आपुहि बन अउ आपु पखेरू।
आपुहि सउजा आप अहेरू।
आपुहि पुहुप फूल—बन फूले।
आपुहि भँवर बास—रस भूले।
आपुहि फल आपुहि रखवारा।
आपुहि सोरस चाखन हारा।
आपुहि घटघट मँह मुख चाहइ।
आपुहि आपन रूप सराहइ।

आपुहि कागद आपु मसि आपुहि लेखन हार।
आपुहि लिखनी आखर आपुहि पंडित अपार।

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फकीरों ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत में मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध होगया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्दी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्ययुग में एक नवीन भारतीय कला सृष्टि की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई कृषकों का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी। देश में नवीन भाव का यथेष्ठ प्रचार हो गया। अकबर के राजत्व काल में इसका पूरा प्रभाव प्रकट हुआ। उसके शाशन काल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नही था। अकबर के महामन्त्री अबुलफ़ज़ल ने एक हिन्दू-मंदिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है–हे ईश्वर सभी देव-मंदिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते हैं। विश्व ब्रह्म-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एक हो; तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मस्ज़िदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और इसाई गिरजाघरों में तुम्हारे लिए घंटा बजाते हैं। एक दिन मैं मस्जिद जाता हूं और एक दिन गिर्जा। पर मंदिर मंदिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्यों के लिए

सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन। अबुलफ़ज़ल का यह उद्गार मध्ययुग का नव सन्देश था। मुगलों के शाशन काल में हिन्दी साहित्य की जो श्री वृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं ने तत्कालीन राजभाषा की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिन्दी साहित्य की। उस समय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने धार्मिक विरोध को भी हटाने की चेष्टा की। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गये।

राजनीति के क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान जाति का विरोध नहीं दूर हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का संघर्षण बना रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र में दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया। इसी चिरंतन सत्य के आधार पर इसी ऐक्यमूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर भारत ने अपनी जातीयता की स्थापना की है। इस जातीयता में सभी जातियां अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं। इसमें सम्मिलित होने के लिए हिंदुओं ने अपना हिंदुत्व नहीं छोड़ा और न मुसलमानों ने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारों का परित्याग किया। परन्तु इन दोनों का मिलन अनन्त सत्य के मंदिर में हुआ जहां बाह्य आचार व्यवहार और कृत्रिम जाति-भेद के बंधन से मनुष्य जाति की एकता भिन्न नहीं होती।

[२]

इतिहासज्ञों का कथन है कि मुग़लों का शासन काल हिन्दी साहित्य के लिए स्वर्ण-युग है। इसमें सन्देह नहीं

कि मुग़ल बादशाहों ने हिन्दी साहित्य के प्रति अनुराग प्रदर्शित किया। कहने की ज़रूरत नहीं कि उन्हीं का अनुकरण कर अन्य विद्या-रसिक श्रीमानों ने भी हिंदी कवियों का सत्कार किया। श्रीमानों की संरक्षकता में हिंदी साहित्य की वृद्धि तो हुई किन्तु कवि जनता के प्रतिनिधि नहीं रह सके। काव्य-कला के विख्यात कवि और शास्त्रों के मर्मज्ञ पण्डित सर्वसाधारण से पृथक् होकर राजसभा के आभूषण हो गये। राज चिन्हों में उनकी गणना होने लगी। भक्त कवियों ने प्रेम का जो आदर्श, सौन्दर्य का जो रूप स्थापित कर दिया था वही उनकी कला का विषय हो गया। भक्त कवियों और राज कवियों की रचनाओं में जो भेद है वह बिलकुल प्रत्यक्ष है। भेद आदर्श में नहीं है, भेद आत्मानुभूति में है। एक में सत्य अधिक है और दूसरी में कल्पना। एक में भाव है और दूसरी में आवेश। एक में अनुराग है और दूसरी में विलास है। एक में त्याग है और दूसरी में भोग है। एक में स्थिरता है और दूसरी में चञ्चलता है। श्री कृष्ण के चरित्र-द्वारा मानव-जीवन के सभी भावों का सूक्ष्म विश्लेषण होने लगा। मनुष्य-जीवन में सौन्दर्य का जितना उच्च विकास हो सकता है वही कवियों का लक्ष्य हो गया। शारीरिक सौन्दर्य में कवियों ने नख से शिखा तक का वर्णन किया है। प्रेम की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करते समय उन्होंने परकीया के प्रेम को भी स्थान दिया। जीवन से कला का पार्थक्य हो गया। कला ने अपना एक पृथक् स्थान ही निर्दिष्ट कर लिया। हिन्दी साहित्य में कला का जो रूप स्फुट हुआ वही तत्कालीन फ़ारसी उर्दू साहित्य में भी प्रत्यक्ष है। अकबर के शासन काल में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर एक ही कला की सृष्टि की और दोनों ने उसकी उन्नति की।

हिन्दी में रहीम कवि के दोहे बड़े प्रसिद्ध हैं। उनमें नीति की शिक्षा दी गई है पर उनमें कवित्त-कला का यथेष्ट परिपाक हुआ है। रहीम ने आचार्य के आसन पर बैठकर लोगों को कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा नहीं दी है। उन्होंने अपने जीवन-सागर का मथन कर अनुभूति द्वारा जो अमृत प्राप्त किया है उसे संसार को दे डाला है। उन दोहों में कहीं उल्लास है, कहीं गूढ़ व्यथा है, कहीं दर्प है, कहीं तिरस्कार है कहीं आधेय है, कहीं निराशा है, कहीं भक्ति है और कहीं उपहास है। हिन्दी में विहारी के भी दोहे प्रसिद्ध हैं और बृन्द के भी। बिहारी के दोहों में केवल कला का चमत्कार है और बृन्द कवि के दोहों में केवल साधारण नीति की साधारण बातें हैं। परन्तु रहीम के दोहों में सत्य जीवन के रस से युक्त होकर झलक रहा है। बिहारी और बृन्द कवि अपनी रचनाओं में छिप गये हैं। उनकी अन्तरात्मा का दर्शन हम कहीं कहीं दस-पांच दोहों में ही करते हैं। पर रहीम के सभी दोहों में उनके प्राण का आवेग, हृदय का भाव, उनकी आत्मा का उच्छ्वास विद्यमान है।

रहीम का पूरा नाम है अब्दुल-रहीम ख़ानखाना। ये अकबर के प्रधान सेनापति थे। ये अकबर के गुरु बैरामखां के पुत्र थे। ये अकबर की राजसभा के रत्न थे। अकबर का शासन-काल भारतीय इतिहास में अपूर्व है। किसी हिन्दी कवि ने यथार्थ लिखा है।

दिल्ली ते न तख्त ह्वै है बख्त न मुगल कैसो
है न नगर बढ़ि आगरा नगर तें।
गंग ते न गुनी, तानसेन से न तानवाज
मान ते न राजा औ न दाता बीरवर तें।

खान खान खाना ते न नर नएति ते न
ह्वै है न दिवान कोऊ बेडर टोडर तें।
नबो खण्ड नबो द्वीप सातहू समुद्र पार
ह्वै हैं जलालुदीन शाह अकबर तें।

यों तो रहीम के सभी दोहों में उनके मानसिक भावों के चित्र हैं पर निम्न लिखित दोहे उन्होंने अपनी विपदावस्था में ही लिखे थे—

ये रहीम घर घर फिरैं मांगि मधुकरी खांहि।
यारो यारी छोड़ दो वे रहीम अब नांहि।
चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध नरेश।
जा पर विपदा परति है सो आवत यहि देश।

रहीम स्वयँ कवि थे और कवियों के आश्रय-दाता थे। उनको कविताओं में हिन्दू भाव की ही सर्वत्र छाया है। रसखान की तरह रहीम ने हिन्दू-धर्म को स्वीकार नहीं किया था। वैरमखां के घर में हिन्दू-धर्म का प्रभाव था ही नहीं। धार्मिक सहिष्णुता या दूसरे धर्म के प्रति अनुराग रखकर भी कोई मुसलमान हिन्दू-भाव को इस प्रकार नहीं अपना सकता है जैसा रहीम ने अपनाया है। रहीम के दोहों में रहीम के स्थान पर किसी भी हिन्दू कवि का नाम रख देने से कुछ भी भेद नहीं पड़ता है। कुछ दोहे तो ऐसे हैं जो किसी याचक ब्राह्मण कवि के ही मुंह से निकलने पर शोभा दे सकते हैं। नवाबों के मुंह से वैसी बात निकलेगी नहीं।

बड़े पेट के भरन में है रहीम दुख बाढ़ि।
याते हाथी हहरि के दये दाँत द्वै काढ़ि।

रहिमन रहिला की भली जो परसै चितलाय।
परसत मन मैला करे सो मैदा जरि जाय।
छिमा बडेन को चाहिए छोटे न को उत्पात।
का रहीम हरि को घट्यो जो भृगु मारी लात।
बड़े दीन को दुख सुने लेत दया उर आनि।
हरि हाथी सों कब हुती कहु रहीम पहिचानि।

ऐसे ही भावों के द्योतक और भी कितने दोहे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने उदर-निर्वाह के लिए बड़े कष्ट सहे हैं। उसे अपमान सहना पड़ा है। उसे ग्लानि भी हुई है। अपने अपराधों के लिए उसे क्षमा-याचना भी करनी पड़ी है और दैन्यावस्था में उसे अपने से कहीं बड़े लोगों का आश्रय ग्रहण करना पड़ा है वह भी अपनी दुख गाथा सुनाकर। रहीम के दोहों में केवल कल्पना के चित्र नहीं हैं। उनके हृदय का उद्गार है। उनमें दूसरों पर जो आक्षेप किया गया है वह भी ऐसा नहीं है कि नवाबों के मुह से निकले—

प्यादे सों फरजी भयो तिरछो तिरछो जात।

अथवा

होय न जाकी छांह ढिग फल रहीम अति दूर।
बाढ़ेहु सो बिन काज ही जैसे तार खजूर।

अथवा

बढ़त रहीम धनाढ्य धन धनै धनी को जाइ।
घटे बढ़े तिनको कहा भीख मांगि जो खाइ।

सम्भव है कि किसी हिन्दू कवि ने ही रहीम के नाम से दोहे लिखे हों।

धूर धरत नित शीश पर कहु रहोम किहि काज।
जिहि रज मुनि पत्नी तरी सो ढूढत गजराज।

जिस धूल से मुनि पत्नी अहल्या का उद्धार हुआ उसी को ढूंढता हुआ हाथी अपने सिर पर धूल फेकता रहता है।

दीन सबन को लखत हैं दीनहिं लखै न कोय।
जो रहीम दीनहिं लखे दीनबन्धु सम होय।

दीन ही सबको देखता है। दीन को कौन देखने का कष्ट उठाता है। जो दीन को देखेगा वही दीन-बन्धु के समान हो जायगा।

जो रहीम ओछो बढ़ै तौ नितही इतराय।
प्यादे से फरजी भयो टेढ़ो टेढ़ो जाय।

छोटे ही बढ़ जाने पर कुटिल होते हैं। प्यादा फरज़ी हो जाने पर टेढ़ी चाल चलता है।

रहिमन राज सराहिये शशि सम सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है तप्यो तरैयन खोय।

जिसके राज्य में सभी की उन्नति हो वही प्रशंसनीय है। भानु के प्रताप से तो सभी नक्षत्र लुप्त हो जाते हैं। पर चन्द्रमा के प्रकाश में उनकी सीमा बनी रहती है।

जे गरीब सों हित करैं धनि रहीम वे लोग।
कहा सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई योग।
बड़े दीन को दुख सुने लेत दया उर आनि।
हरि हाथी सों कब हुती कहु रहीम पहिचान।
होय न जाकी छांह ढिग फल रहीम अति दूर।
बाढ़ेहु सो बिन काज ही जैसे तार खजूर।

जो दूसरों का उपकार करे, दरिद्रों का दुख सुने वे धन्य हैं। सुदामा और कृष्ण की मैत्री धन्य है। हरि की गज पर कृपा होने से ही उनकी महिमा है। किसी को न आश्रय देने वाले की उन्नति व्यर्थ ही है।

रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखौ गोय।
सुनि अठिलै हैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय।

अपने मन के दुःख को छिपा कर रखना चाहिए। सुन कर लोग केवल हंसी उड़ाते हैं। कोई उसमें हिस्सा नहीं लेता।

रहिमन चुप ह्वै बैठिये देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइ हैं बनत न लगि है देर।

दुर्दिन आने पर चुप बैठ जाना चाहिए। जब अच्छा दिन आता है तब बात बनते देरी नहीं लगती।

गहि सरना गति राम की भव सागर की नाव।
रहिमन जगत उधार का और न कछू उपाव।

अब त: कोई उपाय नहीं। केवल भगवान का आश्रय ग्रहण कर। वही इस भव सागर के लिए नौका है।

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुं माँगन जाहिं।
उनसे पहले वे मुए जिन मुख निकसति नाहिं।

मांगने वाले अपनी सारी प्रतिष्ठा खोकर मांगने जाता है। जो सहायता नहीं देते उनकी तो कोई प्रतिष्ठा नहीं है।

रहिमन विपदा तू भली जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जान परत सब कोय।

विपत्ति में भले और बुरों की परीक्षा हो जाती है।

छिमा बड़ेन को चाहिये छोटेन को उतपात ।
का रहीम हरि को घटयो जो भृगु मारो लात ।

बड़ों के लिए क्षमा और छोटों के लिए उपद्रव है।

राम न जाते हरिन संग सीय न रावन साथ ।
जो रहीम भावी कतहुँ होति आपने हाथ ।

भवितव्यता के वश में कौन नहीं पड़ता। सभी उसके खिलौने हैं।

खीरा को मुंह काटि के मलियत लोन लगाय ।
रहिमन करुये मुखन को चहिये यही सजाय ।

कटु भाषकों को सदैव दण्ड देना चाहिए।

दुरदिन परे रहीम कहि दुरथल जैयत भागि ।
ठाढ़े हूजत घूर पर जब घर लागत आगि ।

बुरे दिन आने पर बुरे स्थान में भी लोग आश्रय लेते हैं।

रहिमन अँसुवा नयन ढरि जिय दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ ।

घर का व्यक्ति बाहर निकाल दिये जाने पर घर का भेद खोल ही देगा।

शीत हरत तम हरत नित भुवन भरत नहिं चूक ।
रहिमन तेहि रवि को कहा जो घटि लखै उलूक ।

संसार का उपकार करने वाले के भी निन्दक होते हैं, पर उससे उनका माहत्म नहीं घट जाता।

रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सून ।
पानी गये न उबरे मोती मानुष चून ।

मान ही सबसे बड़ी चीज़ है। मान नष्ट होने पर सभी नष्ट हो गया।

तैं रहीम मन आपनो कीन्हों चारु चकोर।
निसि वासर लाग्यो रहै कृष्ण चन्द्र की ओर।

तू अपने मन को चकोर बना जिससे कृष्णचन्द्र के ही ध्यान में दिन रात मग्न रहे।

जो रहीम करिबे हुतो ब्रज को यही हवाल।
तो नाहक कर पर धरयो गोवर्धन गोपाल।

हे नाथ, जब आपको ब्रज वासियों को यह वियोग दुःख देना था तब आपने उसकी व्यर्थ ही रक्षा की। न वह रहता और न यह दुःख सहता।

सर सूखे पक्षी उड़े औरे सरन समाय।
मीन हीन बिन परन की कहु रहीम कहं जाय।

सर के सूख जाने पर पक्षी तो उड़ जाते हैं, पर मछलियां कहां जावें। उनकी दूसरी गति नहीं है।

कोउ रहीम जनि काहु के द्वार गये पछिताय।
सम्पति के सब जाति हैं विपति सबै ले जाय।

सम्पत्ति में सभी जाते हैं और विपत्ति सभी को ले जाती है। यही भेद है।

समै परे ओछे बचन सब के सहे रहीम।
सभा दुसासन पट गहे गदा रहे गहि भीम।

बुरा समय आने पर सब लोगों को नीच बातें भी सहनी पड़ती हैं।

सबै कहावै लसिकरी सब लसिकर कहं जाय।
रहिमन से सद जोइ सहै सोई जगीरै खाय।

यों तो सिपाही सभी बनते हैं पर जो तलवार की चोट सहे वही जागीर का उपभोग कर सकता है।

करत निपुनइ गुन विना रहिमन गुनी हुजूर।
मानहु टेरत विटप चढ़ि यहि प्रकार हम क्रूर।

गुण न होने पर भी जो अपनी निपुणता प्रकट करने की चेष्टा करते हैं वे मानो पुकार पुकार कर अपनी नीचता का परिचय देते फिरते हैं।

आपन काहू काम के डार पात फल सूर।
और न हू रोकत फिरै रहिमन कूर वकूर।

उपकार तो किसी का वे कर नहीं सकते। पर दूसरों के कार्य में बाधा जरूर डालते हैं। ऐसे दुष्ट जनों का अभाव नहीं है।

ऊगत जेई किरिनि ते अथवत ताही काँति।
त्यौं रहीम दुख सुख सहै बैठे एकहि भाँति।

जो महात्मा होते हैं उनकी सदैव एक ही अवस्था बनी रहती है। उन्नति में उनका जो तेज रहता है वही अवनति-काल में भी बना रहता है।

रहीम के सम्बन्ध में एक कथा यह प्रचलित है कि वे अपनी विपदावस्था में किसी भुजवे के यहां भार झोंकने लगे थे। उस समय रीवां नरेश ने उस अवस्था में देखकर कहा—

जाके सिर अस भार सो रह झोंकत भार अस।

उसके उत्तर में रहीम ने कहा—

रहिमन उतरे पार भार झोंकि सब भार में।

इस कथा में सत्यता का जरा भी अंश नहीं है। रहीम के लिये यह नीच दास-वृत्ति असंभव है। परन्तु इससे यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि उन्होंने सर्व साधारण के के हृदय में इतना अधिकार कर लिया था कि उनके साथ सभी की सहानुभूति थी।

अकबर की राज सभा के रत्नों का उल्लेख जिस कवित्त में किया गया है उसमें नरहरि का भी नाम आया है। उनमें कहा गया है कि नरहरि के समान दूसरा मनुष्य कौन होगा। उनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि निम्नलिखित छप्पय के कारण अकबर ने अपने राज्य में गोबध बंद करा दिया—

अरिहुं दन्त तृन धरैं ताहि मारत न सबल कोइ।
हम सन्तत तृन चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ।
अमृत दय नित स्रवहिं वच्छ महि थंमन जावहिं।
हिन्दुहि मधुर न देहि कटुक तुरुकहिं न पियावहि।
कह कवि नरहरि अकबर सुनो बिनवत गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोंहि मारियत मुयहु चाम सेवइ चरन।

नरहरि के कितने ही छप्पय हिन्दी में प्रसिद्ध हैं। उन सभी में नीति की शिक्षा बड़ी कुशलता से दी गई है। उनसे उनकी स्पष्ट वादिता, निर्भीकता और चरित्र की दृढ़ता प्रकट होती है। उन्होंने उपदेश नहीं दिया है, मार्ग बतलाया है। उनकी रचनाओं में व्यंग है, आक्षेप है, तिरस्कार है।—

ज्ञान बान हठ करैं निधन परिवार बढ़ावै।
बँधुआ करै गुमान धनी सेवक ह्वै धावै।
पण्डित किरिया हीन रांड दुरबुद्धि प्रमाने।
धनी न समझै धर्म नारि मरजाद न माने।

कुलवन्त पुरुष कुलविधि तजै बन्धु न मानै बन्धुहित।
सन्यास धारि धन संग्रहै ये जग में मूरख विदित।
को सिखवत कुलवधू लाज गृह काज रङ्गरति।
हंसन को सिक्खवत करन पय पान भिन्न गति।
सज्जन को सिक्खवत दान अरु शील सुलच्छन।
सिंहन को सिक्खवत हनन गज कुंभ ततच्छन।
विधि रच्यो जानि नरहरि निरखि कुल सुभाव को मिट्टवै।
गुण धर्म अकब्बर साह सुन को नर काको सिक्खवै।
न कछु क्रिया बिन विप्र न कछु कायर जिय छत्री।
न कछु नीति बिन नृपति न कछु अच्छर बिन मन्त्री।
न कछु बाम बिन धाम न कछु गथ बिन गरुआई।
न कछु कपट को हेत न कछु मुख आप बड़ाई।
न कछु दान सनमान बिन न कछु सुभोजन जासु दिन।
जन सुनो सकल नरहरि कहत न कछु जनम हरि भक्ति बिन।
सर सर हंस न होत वाजि गजराज न दर दर।
तर तर सुफर न होत नारि पतिव्रता न घर घर।
मन मन सुमति न होत मलै गिर होत न बन बन।
फन फन मनि नहिं होत मुक्त जल होत न घन घन।
रन रन सूर न होत हैं जन जन होत न भक्त हरि।
नर सुनो सकल नरहरि कहत सब नर होत न एक सरि।
कबहुं द्वार प्रतिहार कबहुं दर दर फिरन्त नर।
कबहुं देत धन कोटि कबहुं कर तर करन्त कर।
कबहुं नृपति मुख चहत कहत करि रहत वचन बस।
कबहुं दास लघु दास करत उपहास शिम्द रस।
कछु जानि न संपति गर्विये विपति न यह डर आनिये।
हिय हारि न मानत सत पुरुष नरहरि हरिहिं संभारिये॥

नरहरि के समान गंग का भी नाम अकबर की राज-सभा के नर-रत्नों में लिया जाता है। गंग की कुछ ही रचनायें हिन्दी में प्राप्य हैं—

प्रबल प्रचंड बली बैरम के खानखाना
तेरी धाक दीपन दिसान दह दहकी।
कहै कवि गंग तहां भारी सूरवीरन के
उमड़ि अखंड दल प्रलै पौन बहकी।
मच्यो घमसान तहां तोप तीर बान चलैं
मंडि बलवान किरवान कोपि गहकी।
तुण्ड काटि मुंड काटि जोसन जिरह काटि
नीमा जामा जीन कटि जिमीं आनि ठहकी।

अर्थात् हे खानखाना, तेरी धाक, तेरा तेज चारों ओर, सर्वत्र, उद्दीप्त हो रहा है। तुम्हारे शूरों का दल प्रलयकाल की पवन की तरह उमड़ कर शत्रुओं पर टूट पड़ा। बड़ा भयानक युद्ध हुआ। तेग, तीर और बाण खूब चले। फिर जब तुमने क्रुद्ध होकर तलवार ग्रहण की तब हाथियों की सूँड, शत्रुओं के सिर, जिरह बखतर, जीन सब कट कर जमीन पर आ लगीं।

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान
एकन ते एक मानो सुखमा जरद की।
कहै कवि गंग तेरे बल की बयारि लागे
फूटी गज घटा घन परा ज्यों सरद की।
ऐते मान सोनित की नदियां उमड़ चलीं
रही न निसानी कहूं महि में गरद की।
गौरी गह्यो गिरिपति गनपति गह्यो गौरी
गौरीपति गह्यो पूँछ लपकि बरद की।

उदीयमान सूर्य की तरह तुम्हारी तलवार के चमकते ही बड़े बड़े वीरों के मुख की कांति पीली पड़ जाती है। तेरी बल-रूपी पवन के लगने से गजों की घटा घनघटा की तरह उड़ जाती है। रक्त की ऐसी नदी बही कि उससे पृथ्वी पर कहीं धूल का चिन्ह नहीं रह गया। घबड़ाकर पार्वती जी ने शंकर जी को, गणेश जी ने पार्वती जी को और शकर जी ने लपककर बैल की पूंछ पकड़ ली।

फूट गये हीरा की बिकानी कनी हाट हाट
काहू घाट मोल काहू बाढ़ मोल को लयो।
टूट गई लंका फूट मिल्यो जो विभीषण है
रावन समेत बंस आसमान को गयो।
कहै कवि गंग दुरजोधन से छत्र धारी
तनिक में फूटें तें गुमान वाको नै गयो।
फूटे तें नरद उठि जात बाजी चौसर की
आपुस के फूटे कहु कौन को भलो भयो।

फूट से अलग अलग होने से. हीरा का मूल्य नष्ट हुआ, लंका नष्ट हुई, दुर्योधन हत हुआ, चौसर की बाजी भी चली गई। फूट से भलाई हुई कब है?

अधर मधुप ऐसे वदन अधिकानी छवि
विधि मानो विधु कीन्हो रूप को उदधि कै।
कान्ह देखि आवत अचानक मुरछि पर्यो
बदन छुपाइ सखियान लीन्हो मधि कै।
मारि गई गंग दृग शर वेधि गिरिधर
आधी चितवन में अधीन कीन्हो अधि कै।
बान बधि बधिक बधे को खोज लेत फेरि
बधिक बधू न खोज लीन्ही फेरि बधि कै।

उस चन्द्रमुखी नायिका के कटाक्ष-पात से नायक घायल हो गया। कायदा तो यह है कि शिकारी शिकार को घायल करने के बाद उसे खोजता है, पर घायल कर डालने पर भी उस नायिका ने उसकी ज़रा भी परवाह नहीं की।

मृग हू ते सरस विराजत्त विसाल द्रुग
देखिए न अति दुति कौल हू के दल मैं।
गंग धन दुज से लसत तन आभूषन
ठाढ़े द्रुम छांह देख ह्वै गई विकल मैं।
चख चित चाय भरे शोभा के समुद्र माँझ
रही ना सँभार दसा औरे भई पल मैं।
मन मेरो गरुओ गयो री बूड़ि मैं न पायो
नैन मेरे हरुये तिरत रूप जल मैं।

अर्थात् उस रूप सागर में मेरा मन भारी होने के कारण ही डूब गया है। नेत्र हलके थे, इसीलिए तैरते रह गये। आभूषणों से सजी हुई उस मृगनयनी को झाड़ के नीचे खड़ी देख मेरी तो विचित्र ही दशा हो गई।

गंग के नाम से एक छप्पय प्रसिद्ध है।

तिमिर लङ्ग लई मोल चली बब्बर के हल के।
रही हुमायूं साथ गई अकबर के दल के।
जहांगीर जस लियो पीठि को भार छुड़ायो।
शाहजहां करि न्याय ताहि को माँड़ चटायो।
बल रहित भई पौरुष थक्यो भगी फिरत बन स्यार डर।
औरंगज़ेब करनी सोई लै दीन्ही कवि गंग घर।

हिन्दी में केशवदास साहित्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य कहे जा सकते हैं। पर उनकी रसिक-प्रिया और कवि-प्रिया

का आधार पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य नहीं, तत्कालीन संस्कृत-साहित्य है। बौद्ध-धर्म के पतन के बाद भारत में जो नवीन संस्कृत-साहित्य प्रचलित हुआ वह खण्डनात्मक और मण्डनात्मक ग्रन्थों से ही पूर्ण है। दर्शन, धर्म, व्याकरण और काव्यों की शास्त्रीय विवेचना में तत्कालीन हिन्दू विद्वानों ने खूब परिश्रम किया। यह साहित्य विद्वानों के ही लिए था। उनमें पाण्डित्य इतना प्रखर है कि सर्वसाधारण उनकी ओर ताकने का साहस ही नहीं कर सकते। श्रीहर्ष से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक जो संस्कृत-साहित्य निर्मित हुआ वह विद्वानों का ही कण्ठाचरण था। उन्हीं का अनुसरण कर केशवदास जी ने रसिकों के लिए रसिक-प्रिया और कवियों के लिए कवि-प्रिया बनाई है। केशवदास जी के समय में हिन्दी के कवियों के प्रति विद्वानों का आदर भाव नहीं था। स्वयं केशवदास जी को अपनी हिन्दी की रचनाओं के प्रति एक प्रकार से लज्जा का भाव था। जिनके पूर्वज पाण्डित्य गुणी थे वह भाषा का कवि हो, यह क्या गौरव की बात है—

> भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
> भाषा कवि को मन्दमति तेहि कुल केशवदास।

इसी से केशवदास की रचनायें बड़ी क्लिष्ट हैं। पण्डितराज जगन्नाथ और केशवदास एक ही कोटि के व्यक्ति हैं।

> सत्य सत्व गुण को कि सत्य ही की सत्ता सुभ
> सिद्धि की प्रसिद्धि की सुबुद्धि-वृद्धि मानिये।
> ज्ञान ही की गरिमा कि महिमा विवेक की कि
> दरसन ही को परसन उर आनिये।
> पुन्य को प्रकाश वेद विद्या को विलास किधौं
> जस को निवास केसोदास जग जानिये।

मदन कदन सुत बदन रदन किधौं ।
विघन बिना सब की विधि पहिचानिये ।

अर्थात् यह सत्वगुण की सचाई है या सत्य का शुभ अस्तित्व है या सिद्धि की प्रसिद्धि है या इसे हम सुबुद्धि को ही वृद्धि मानें । यह ज्ञान की गरिमा है या विवेक की महिमा है या हम अपने हृदय में यह समझें कि हमें दर्शन-शास्त्र का ही दर्शन हो रहा है । यह पुण्य का प्रकाश है अथवा वेद-विद्या की शोभा है अथवा हम यह जानें कि संसार में यश का निवास यह है अथवा यह गणेश जी के मुख का दांत है या विघ्न नष्ट करने की युक्ति ।

बालक मृनालनि ज्यों तोरि डारै सबै काल
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को ।
विपति हरत हठि पद्मिनी के पात सम
पङ्क ज्यों पताल पेलि पठवै कलुष को ।
दूरि कै कलङ्क अंक भव सीस ससि सम
राखत हैं केशोदास दास के वपुष को ।
सांकरे की साकरन सनमुख होत तोरै
दशमुख मुख जोवै गजमुख मुख को ॥
कांपि उठो आप निधि तप नाहिं तार चढ़ो
सीरिये शरीर गति भई रजनीश की ।
अजहूं न ऊंचो चाहै अनल मलिन मुख
लागि रही लाज मुख मानो मन बीस की ।
छबि सों छबीली लक्षि छाती में छुपाई हरि
छूटि गई दानि गति कोटहूं तैंतीस की ।
केशोदास तेही काल कारोई ह्वै आयो काल,
सुनत श्रवण बकसीस एक ईश की ।

अर्थात् कानों से महादेव जी के दान की बात सुनते ही समुद्र कांप उठा, सूर्य को ज्वर चढ़ आया, चन्द्रमा का शरीर ही ठंडा पड़ गया। अग्निदेव का मुख मलीन हो गया और अभी तक वे ऊंचा मुख ही नहीं करते मानों उस पर लज्जा की बीसों मन कालिमा लग गई। विष्णु ने सौन्दर्यमयी लक्ष्मी को छाती में छिपा लिया। तेंतीस करोड़ देवों की दानशीलता छूट गई। और दूसरों की क्या कहें उस समय तो काल भी काला पड़ गया।

आशी विष राकसन दैयतन दै पताल
सुरन नरन दियो दिवि भू निकेतु है।
थिर चर जीवन को दीन्ही वृत्ति केशोदास
दीवे कहूँ कहौ कहा और कोऊ हेतु है।
सीत बात तोय तेज आवत समय पाय
काहू पै न नाको जाय ऐसो बांधो सेतु है।
अब तब जब कब जहां तहां देखियत
विधि ही को दीन्हो सब सब ही को देतु है।

अर्थात् पाताल लोक तो ब्रह्मा ने सर्पों, राक्षसों और दैत्यों को दिया। देवताओं को उन्होंने स्वर्ग दिया और मनुष्यों को निवास-स्थान के लिए पृथ्वी दी। स्थावर और जंगम प्राणियों को उन्होंने उनकी जीवन-वृत्ति दी। देने के लिए अब और क्या रह गया। शीत, वायु, जल, तेज, ये सब तो समय आने पर सभी पाते हैं। उन्होंने तो इसके लिए ऐसी मर्यादा स्थापित कर दी है कि उसका उल्लङ्घन ही नहीं किया जा सकता। सच्ची बात तो यह है कि किसी भी समय कहीं भी जो कुछ दिया जाता है वह सब ब्रह्मा जी का दिया हुआ है।

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय
ऐसी मति उदित उदार कौन की भई।
देवता प्रसिद्ध सिद्ध ऋषिराज तप वृद्ध
कहि कहि हारे सब कहि न काहू लई।
भावी भूत वर्तमान जगत बखानत है
केशोदास क्योंहूँ न बखानी काहू पै गई।
वर्णं पति चार मुख पूत वर्णं पांच मुख
नाती वर्णं षट मुख तदपि नई नई।

अर्थात् ऐसी बड़ी बुद्धि किसकी है जो सरस्वती की उदारता का वर्णन कर सके। बड़े बड़े देव, सिद्ध, तपोवृद्ध ऋषि सब कह कह कर हार गये। संसार में भूत, भविष्य और वर्तमान बतलाने वाले हैं पर किसी से सरस्वती की उदारता का वर्णन न किया जा सका। ब्रह्मा जी उसे अपने चारों मुखों से कहते कहते थक गये। शिवजी अपने पांचों मुखों से भी उसे नहीं कह सके और कुमार के छः मुख भी थक गये। सरस्वती की उदारता को बातें नई ही बनी रहीं।

पूरन पुराण अस पुरुष पुराने परि
पूरन बतावै न बतावै और उक्ति को।
दरसन देत जिन्हें दरसन समझैं न
नेति नेति कहैं वेद छांडि भेद युक्ति को।
जानि यह केशोदास अनु दिन राम राम
रहत रहत न डरत पुन सक्ति को।
रूप देहु अनिमाहि, गुन देहु गरि माहि
भक्ति देहु महिमाहि नाम देहु मुक्ति को।

पुराण और वृद्धजन सभी केवल यही कहते हैं कि वे पूर्ण हैं, और कुछ वे भी नहीं बतलाते। दर्शन-शास्त्र भी

उसके रहस्य का विश्लेषण नहीं कर सकते। वेद भी नेति नेति कह कर छोड़ देता है। इसीलिए पुनरुक्ति की परवाह न कर मैं तो राम राम कहता रहता हूँ। उनके रूप से अणिमा की सिद्धि होती है, गुण से गरिमा की, भक्ति से महिमा की और नाम से तो मुक्ति ही मिल जाती है।

जो हौं कहौं रहिये तो प्रभुता प्रगट होति
चलन कहौं तो हित हानि नाहिं सहनो।
भावै सो करहु तो उदास भाव प्राणनाथ,
साथ लै चलहु कैसे लोक लाज बहनो।
केशोराय की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जो पै नाहीं राज रहनो।
तैसियै सिखाओ सीख तुमही सुजान पिय
तुमहिं चलत मोहि जैसो कछू कहनो।

अर्थात् तुम तो बिदा मांग रहे हो पर मैं तुम्हें कहूं क्या। 'रह जाइए' कहूं तो तुम पर मेरी प्रभुता प्रकट होती है। 'चले जाइए' कहूं तो मेरे हित की हानि हो रही है, जो असह्य है। यह कहूं कि आप जैसा चाहें करें तो उससे उदासीनता प्रकट होती है। 'साथ ले चलो' कहूं तो उससे लोक-लज्जा नष्ट होगी। तुम्हें तो यहां रहना नहीं, जाने से ही प्रयोजन है। अब तुम्ही बताओ, तुम्हारे जाते समय मैं तुम्हें क्या कहूं।

भूषण सकल घन सार ही के घनश्याम
कुसुम कलित केस रही छबि छाई सी।
मोतिन की लरी सिर कंठ कंठ माल हार
वाकी रूप ज्योति जात हेरत हिराई सी।
चन्दन चढ़ाये चारु सुन्दर सरीर सब
राखी सुभ सोभा सब बसन बसाई सी।

शारदा सी देखियत देखो जाय केशोदास
ठाढ़ी वह कुंवरि जुन्हाई में अन्हाई सी।

कपूर के तो अभूषण हैं, केशों पर सफेद पुष्पों की शोभा है, सिर पर मुक्तालर और कंठ पर कंठा और हार ये सब उसके रूप की ज्योति में लुप्त हो गये हैं। स्वयँ उसने सारे शरीर पर चन्दन का लेप कर लिया है। जाकर देखो तो सही, वह चांदनी में स्नान किये हुए के समान शारदा की तरह खड़ी है।

सिखै हारी सखी डरपाय हारी कादंबनी
दामिनि दिखाय हारी दिसि अधरात की।
झुकि झुकि हारी रति मारि मारि हार्‌यो मार
हारी झक झोरति त्रिविध गति बात की।
दई निरदई दई वाहि ऐसी काहे मति
जारति जु ऐन रैन दाह ऐसे गात को।
कैसे हू न मानै हो मनाइ हारी केशोराय
बोलिहारी कोकिला बोलाय हारी चातकी।

अर्थात् किसी से कुछ न हुआ। सखी सिखा न सकी, मेघ डरा न सका, विद्युत भी चमक चमक रह गई। रति और कामदेव से भी कुछ न हुआ। शीतल, मन्द सुगन्ध वायु का बहना भी व्यर्थ हुआ। कोकिला और चातकी की कण्ठ-ध्वनि निष्फल हुई। पर वह नहीं मानती। उसको ऐसी बुद्धि निर्दयी ब्रह्मा ने ही कर दी। तब वह मान छोड़ेगी क्यों।

खंजन है मनरंजन केशव
रंजन नैन किधौं मति जीकी।
मीठो सुधा कि सुधाधर की
दुति दंतन को किधौं दाड़िम ही की।

चन्द भलो मुख चन्द किधौं सखि
मूरति काम कि कान्ह की नीकी।
कोमल पंकज कै पद पंकज
प्राण पियारे कि मूरति पीकी।

अर्थात् अब तुम्ही बतलाओ कि खंजन अच्छे लगते हैं कि उनके नेत्र, अमृत अच्छा है या उनके अधरों की सुधा, उनके दन्तों की द्युति अच्छी है या दाड़िम के दाने, चन्द्रमा अच्छा है या उनका मुख-चन्द्र, राम अधिक सुन्दर है या कृष्ण है, कमल अधिक कोमल है या उनका चरण-कमल, प्राण अधिक प्यारे हैं या प्रियतम की मूर्ति ?

अमल कमल कुल कलित ललित गति
बेल सों बलित मधु माधवी को पानिये।
मृग मद मरदि कपूर धूरि चूरि पग
केसरि को केशव विलास पहिचानिये।
झेलि कै चमेली करि चंपक सों केलि सेइ
सेवती समेत हेतु केतकी सों जानिये।
हिलि मिलि मालती सों आवति समीर जब
तब तेरे सुख-मुख वास सों बखानिये।

वायु को तुम्हारे मुख-वास के बराबर होने के लिए बड़ी कोशिश करनी होगी। उसे पहिले निर्मल होना पड़ेगा। फिर कमलों के साथ रहना पड़ेगा। फिर मन्द गति से बेले के समीप जाना होगा। फिर माधवी का मधुपान करना होगा। फिर कस्तूरी और कपूर को चूर चूर कर केसर के साथ विलास करना होगा। फिर चमेली से मिलकर चंपक से खेलकर सेवती की सेवा कर केतकी से युक्त होना

पड़ेगा। फिर मालती से हिल-मिल कर जब वह आवेगा तब उसमें तुम्हारे मुख-वास की सी सुगन्धि रहेगी।

नारी-सौन्दर्य का वर्णन करने में केशवदास जी की यह विशेषता है कि वे शारीरिक सौन्दर्य को मूर्तिमान करने की कोशिश कभी नहीं करते। उन्हें सौंदर्य का चित्र खींच देना अभीष्ट नहीं है। चित्र बनाने में कवि की क्या कुशलता है। वे विलक्षण उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के द्वारा हृदय में कल्पना से अधिगम्य सौन्दर्य की भावना उत्पन्न कर देना चाहते हैं। शारीरिक सौन्दर्य नहीं सौन्दर्य की भावना उनका लक्ष्य है।

एकै कहैं अमल कमल मुख सीता जू को
एकै कहैं चन्द्र सम आनन्द को कंद री।
होय जो कमल तो रयनि में न सकुचै री
चन्द जो तो बासर न होय दुति मंद री।
बासर ही कमल, रजनि ही में चन्द, मुख
बासर हू रजनि विराजै जगवन्द री।
देखे मुख भावै अन देखे ई कमल चन्द,
ताते मुख मुखै सखि कमलै न चन्द री।

अर्थात् सीता जी का मुख न तो कमल है और न चन्द्रमा। कमल रात में शोभा हीन हो जाता है और चन्द्रमा दिन में क्षीणद्युति हो जाता है। परन्तु सीता जी का मुख तो क्या दिन और रात सभी समय दर्शनीय है।

वासों मृग अंक कहैं तोसों मृग नैनी सबै
वह सुधाधर तुहूँ सुधाधर मानिये।
वह द्विज राज तेरे द्विजराजी राजै वह
कला निधि तुहूँ कला-कलित बखानिये।

रत्नाकर के हैं दोऊ केशव प्रकाश कर,
अंबर विलास कुवलय हितु जानिये।
वाके अति सीतकर तुहूँ सीता सीतकर
चन्द्रमा सी चन्द्र मुखी सब जग जानिये।

चन्द्रमा के समान ही तो वह चन्द्र-मुखी है। चन्द्रमा मृगाङ्क है तो वह मृग-नयनी है। वह द्विज राज है तो यहां भी द्विजों की, दांतों की, शोभा है। वह कला-निधि है तो यह भी कला से युक्त है। उसकी किरणें शीतल हैं तो इसके हाथ शीतल हैं।

फूली लतिका ललित तरुणि तर फूले तरुवर।
फूली सरिता सुभग सरस फूले सब सरवर।
फूली कामिनि काम रूप करि कंतनि पूजहिं।
शुक सारो कुल हँसै फूलि कोकिल कल कूजहिं।
कहि केशव ऐसी फूल महँ फूलहिं शूल न लाइए।
पिय आपु चलन की का चली चित्त न चलै चलाइए।

अर्थात् सुन्दर लतायें पुष्पित हो रही हैं, वृक्षों में भी फूल खिल आये हैं। नदियां उमंग से वह रही हैं। तालाब भी फूलों से रमणीय हो रहे हैं। स्त्रियां आनन्दित होकर अपने प्रियतमों की पूजा कर रही हैं। शुक और सारिकायें प्रसन्न हैं। कोकिलों की मधुर ध्वनि हो रही है। ऐसे आनन्द में तुम जाने की वात भी अपने चित्त में न लाओ।

केशवदास अकाश अवनि वासित सुवास करि।
बहत पवन गति मंद गात मकरन्द वुन्द धरि।
दिसि विदिसनि छबि लागि माग पूरति परागवर।
होत गन्ध ही अन्ध बौर भौंरा विदेशि नर।

सुनि सुखद सुखद सिख सीखियत रति सिखई सुख-साख मैं।
बर विरहिन बधत विशेष करि काम विशिष वैसाख मैं।

अर्थात् आकाश और पृथ्वी सुगन्ध से परिपूर्ण हैं। मकरन्द के कारण पवन की मन्द गति है। सर्वत्र शोभा है, सर्वत्र पराग है। गन्ध के ही कारण भौंरे और विदेश में रहने वाले अन्धे हो जाते हैं। वियोगिनियों को वैसाख में ही काम के वाण अधिक कष्ट देते हैं।

एक भूत मय होत भूत भजि पंचभूत भ्रम।
अनिल अंबु, आकाश अवनि ह्वै जाति आगि सम।
पंथ थकित मद मुकित सुखित सर सिंधुर जोवत।
का कोदर कर कोष उदर तर केहरि सोवत।
प्रिय प्रवलजीव यहि विधि अवल सकल विकल जल थल रहत।
तजि केशवदास उदास मति जेठ मास जेठे कहत।

अर्थात् जगत पञ्चभूतात्मक है, यह भ्रम जेठ में हो दूर होता है। क्योंकि उस समय क्या पवन, क्या पानी, क्या आकाश और क्या पृथ्वी सभी अग्नि ही हो जाते हैं। तालाब का सुख देख कर हाथी अपना मद छोड़ देता है। रास्ता बन्द हो जाता है। उसके कर कोष अर्थात् सूंड की कुण्डली में सर्प और पेट के नीचे सिंह सोते हैं। ऐसे प्रवल जीव भी निर्वल हो जाते हैं। जल और स्थल के सभी प्राणी व्याकुल रहते हैं। इसीलिए श्रेष्ठों का कथन है कि जेठ में जाने की मति छोड़ देनी चाहिये।

पवन चक्र परचंड चलत चहुं ओर चपल गति।
भवन भामिनी तजत भँवति मानहु तिनकी मति।
सँन्यासी यहि मास होत इक आसन वासी।
मनुजन की को कहै भये पक्षियो निवासी।

यहि समय सेज सोवन लियो श्रीहि साथ श्रीनाथ हू।
कहि केशवदास अषाढ़ चल मैं न सुन्यों श्रुति गाथ हू।

अर्थात् चारों ओर चपल गति से प्रचंड पवन का चक्र यों घूम रहा है कि मानो घरों में जिन्होंने अपनी स्त्रियों को छोड़ दिया है उनकी बुद्धि ही चक्कर लगा रही है। इस महीने में सन्यासी भी एक ही स्थान में रहते हैं। मनुष्यों की कौन कहे, पक्षी भी एक ही स्थान में निवास करते हैं। भगवान् विष्णु भी लक्ष्मी के साथ शय्या पर सोते हैं। आषाढ़ में जाना तो मैंने वेदों में भी नहीं सुना।

केशव सरिता सकल मिलत सागर मन मोहैं।
ललित लता लपटात तरुन तन तरवर सोहैं।
रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन।
मन भावन कहँ भेंटि भूमि कूजत मिस मोरन।
यहि रीति रमन रमनी सकल लागे रमन रमावनै।
पिय गमन करन की को कहै गमन सुनिय नहिं सावनै।

अर्थात् नदियां सागर से मिल रही हैं, लतायें वृक्षों से मिल रही हैं, बिजली मेघों से मिलकर चमक रही है, पृथ्वी भी अपने प्रिय से मिलकर भौरों के मिस कूज रही है। सभी स्त्री-पुरुष मिल रहे हैं। इस समय जाने की कौन कहे, द्विरागमन तक नहीं होता।

घोरत घन चहुं ओर घोष निर्घोषनि मंडहि।
धाराधर धरि धरनि मुसल धारनि जल छंडहि।
झिल्लीगन झंकार पवन झुकि झुकि झक झोरत।
बाघ सिंह गुंजरत पुंज कुंजर तरु तोरत।
निशिदिन निशेष विशशेष मिटि जात सु ओली ओड़िए।
निज देश पियूष विदेशविष भादौं भवन न छोड़िए।

अथात् बादल गरज रहे हैं। पृथ्वी पर मूसलधार वर्षा हो रही है। इधर झिल्लियों का झंकार हो रहा है और उधर पवन भी दूने वेग से बह रही है। बाघ और सिंह घूम रहे हैं और हाथी वृक्षों को तोड़ रहे हैं। दिन और रात का तो भेद ही मिट गया है। ऐसे समय में तो अपना देश ही अमृत होता है और विदेश विष।

प्रथम पिंड हित प्रकट पितर पावन घर आवैं।
नव दुर्गा नर पूजि स्वर्ग अपवर्गहु पावैं।
छत्रनि दै छितिपतिहु लेत भुव लै सँग पण्डित।
केशवदास अकाश अमल जल जल जनि मंडित।
रमणीय रजनि रजनीश रुचि रमारमन हू रास रति।
कलकेलि कल्पतरु क्वांर महँ कंत न करहु बिदेश मति।

पितृ गण पिंड के लिए घर आते हैं। नव दुर्गा की पूजा कर मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष भी पाते हैं। राजा पृथ्वी को लेते हैं। आकाश निर्मल है। जल में कमल शोभायमान हैं। रात बड़ी रमणीय है। चन्द्रमा की कान्ति मनोहर है। भगवान् कृष्ण इसी समय रास-नृत्य करते हैं। केलि के लिए तो यह मास कल्प तरु है।

वन, उपवन, जल, थल, अकास दीसंत दीप गन।
सुख ही सुख दिन रात जुवा खेलत दम्पति जन।
देव चरित्र विचित्र चित्र चित्रित आंगन घर।
जगत जगत जगदीश जोति, जग मगत नारि नर।
दिन दान न्हान गुन गान हरि जनम सुफलकरि लीजिए।
कहि केशवदास विदेशमति कंत न कातिक कीजिए।

अर्थात् अब तो सर्वत्र सुख ही सुख है। घर घर देवों के चरित्र सम्बन्धी चित्र लिखे जा रहे हैं। स्वयं जगदीश्वर

जाग उठे हैं और सभी स्त्री पुरुषों में नव-चैतन्य भाव जागृत हो गया है। स्नान, दान और भगवान् के यशोगान से अब जन्म सफल कीजिए।

> मासन में हरि अंश कहत यासों सब कोऊ।
> स्वारथ परमारथ हु देत मारथ महँ दोऊ।
> केशव सरिता सरनि कूल फूले सुगन्ध गुर।
> कूजत कल कलहंस कलित कलहंसनि को सुर।
> दिन परम नरम शीत न गरम करम करम यह पाय ऋतु।
> करि प्राननाथ परदेस कहँ मारगसिर मारग न चितु।

अर्थात् मासों में मार्गशीर्ष ही ईश्वर का अंश कहा गया है। इस मास में स्वार्थ और परमार्थ दोनो सिद्ध होते हैं। नदियों और तालाबों के किनारे फूल खिले हुए हैं। कल-हंस और कल-हंसिनो मधुर स्वर से कूज रही हैं। दिन न उष्ण है और न शीत। अच्छे कर्मों से यह ऋतु उपलब्ध होती है।

> शीतल जल थल वसन असन शीतल अन रोचक।
> केशवदास अकाश अवनि शीतल असु मोचक।
> तेल तूल तामोर तपन तापन नर नारी।
> राज रंक सब छोंडि करत इनहीं अधिकारी।
> लघु दिवस दीहि रजनी रमन होत दुसह दुख रूसमें।
> यह मन क्रम बचन विचारि पिय पंथ न बूझिय पूसमें।

अथात् अब शीतल वस्तु कोई भी अच्छी नहीं लगती। सभी तेल, रुई, पान, सूर्य और अग्नि को पसंद करते हैं। दिन छोटा होता है और रात बड़ी। रूठने से असह्य दुःख होता है।

बन उपवन केकी कपोत कोकिल कल बोलत।
केशव भूले भँवर भरे बहु आपन डोलत।
मृग मद मलय कपूर धूर धूसरित दसौ दिस।
ताल मृदंग उमंग सुनत संगीत गीत निसि।
खेलत बसन्त संतत सुघर सँत असन्त अनन्त गति।
घर नाह न छाँडिय माह में जो मन माहि सनेह मति।

अर्थात् वन और उपवन में पक्षियों का मधुर कलरव हो रहा है। भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, सर्वत्र सुगन्धि फैल रही है। रात में संगीत होता है। सभी लोग वसन्त में क्रीड़ा करते हैं।

लोक लाज तजि राज रंक निरसंक विराजत।
जोइ भावत सोइ कहत करत पुनि हास न लाजत
घर घर युवती युवन जोर गहि गांठिन जोरहिं।
बसन छीनि मुख मांडि आंजि लोचन तिन तोरहिं।
पटवास सुवास अकास उड़ि भुव मंडल सब मंडिए।
कह केशवदास विलासनिधि फागुन का गुन छांड़िए।

अर्थात इस मास में तो सभी निश्शङ्क होकर वसन्तोत्सव में मग्न रहते हैं; जो मन में आता है कहते हैं और करते हैं। घर घर स्त्री-पुरुष एक दूसरे को जबरदस्ती पकड़ मुख पर काजल आदि लगाते हैं। चारों ओर गुलाल अबीर उड़ता है। ऐसे महीने में आप किस अपराध से मुझे छोड़ कर जायंगे।

जिस प्रवीण राय के लिए केशवदास जी ने कवि-प्रिया की रचना की उसको भी एक सुन लीजिए—

सीतल समीर ढार मंजन कै घनसार
अमल अंगोछे आछे मन से सुधारिहौं।

देहौं ना पलक एक लागन पलक पर
मिलि अभिराम आछी तपनि उतारिहौं।
कहत प्रवीनराय आपनी न ठौर पाय
सुन बाम नैन या बचन प्रतिपारिहौं।
जबहीं मिलेंगे मोहिं इन्द्रजीत प्रान प्यारे
दाहिनो नयन मूंदि ताहि सौं निहारिहौं।

सैयद मुबारक अली बिलग्रामी की कितनी ही सरस उक्तियां हिन्दी में प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म संवत् १६४० में हुआ था।

कनक बरन बाल नगन लसत भाल
मोतिन के माल उर सोहैं भली भांति है।
चन्दन चढ़ाई चारु चंदमुखी मोहिनी सी
प्रात ही अन्हाइ पगु धारे मुसकाति है।
चूनरी विचित्र श्याम सजि कै मुबारक जू
ढांकि नख सिख तें निपट सकुचाति है।
चन्द्र मैं लपेटि कै समेटि के नखत मानो
दिन को प्रणाम किये रात चली जाति है।

बिलग्रामी की तरह कितने ही मुसलमानों ने हिन्दी-साहित्य को अपना लिया था। पर हिन्दी-साहित्य के साथ हिन्दू-भाव को भी कुछ ने स्वीकार कर लिया था। ताज नामक एक स्त्री-कवि ने तो यहां तक कहा है—

सुनौ दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव-पूजा ठानी मैं नमाज हू भुलानी
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूंगी मैं।

श्यामला सलौना सिर ताज सिर मुल्लेदार
तेरे नेह दाग मैं निदाव ह्वै दहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै
ताण नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं।

ऐसे भक्त-कवियों में रसखान की कवितायें विशेष प्रसिद्ध हैं। रसखान मुसलमान थे। परंतु उन्होंने वैष्णव-धर्म स्वीकार कर लिया। गोस्वामो विठ्ठलनाथ जी ने उन्हें वैष्णव-धर्म की दीक्षा दी। अपने सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है-

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंस की ठसक छोड़ि रसखान।
प्रेम निकेतन श्री बनहिं आय गोवर्धन धाम।
लह्यो सरन चित चाहि कै जुगल सरूप ललाम।
तोरि मानिनी तें हियो फोरि मोहिनी मान।
प्रेम देव की छबिहिं लखि भए मियां रसखान।

भक्त-कवियों और श्रृङ्गार-रस के आचार्यों में यही भेद है। बिहारी, मतिराम आदि कवियों ने भी श्रीकृष्ण जी को ही आदर्श मान कर श्रृंगार-रस से पूर्ण कवितायें लिखी हैं। परन्तु रसखान को उस प्रेम-देव का दर्शन हो चुका था, उस सौन्दर्य-निधान से उन्होंने साक्षात्कार कर लिया था जिसके आगे पार्थिव वैभव तुच्छ है। श्रृङ्गार-रस के कितने आचार्यों ने सांसारिक वैभव का परित्याग कर ऐहिक वासनाओं का दमन किया। भक्ति के आवेग में आकर कितनों ने वैभव की कामना छोड़ी है? रसखान के लिए प्रेम कैसा था—

इक अंगी बिनु कारनहिं इक रस सदा समान।
गनै प्रियहिं सरवस्व जो सोई प्रेम प्रमान॥

प्रेम का यथार्थ लक्षण यही सर्वस्व-समर्पण, यही त्याग है। इस त्याग में कोई कामना नहीं रहती, कोई कारण नहीं रहता। रस खान का एक कवित्त लीजिये—

छूट्यो लोक लाज गृहकाज मन मोहनी को
मोहन को भूलि गयो मुरली बजाइबो।
अब रस खान दिन द्वै में बात फैलि जैहै
सजनी कहाँ लौं चन्द हाथन दुराइबो।
कालि ही कलिन्दी तीर चितये अचानक ही
दुहुन की ओर दोऊ मुरि मुसकाइबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैय्याँ
उन्हें भूलि गई गैयाँ इन्हें गागर उठाइबो।

इस पद्य के साथ देव कवि के निम्नलिखित कवित्त की तुलना कीजिए—

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठैं
साँसैं भरि आंसू भरि कहत दई दई।
चौंक चौंक चकि चकि उचकि उचकि देव
जकि जकि बकि बकि परत बई बई।
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं
पलन थिरात रीत नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधिका मै
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई।

इन दोनों में प्रेम की विमुग्धावस्था का वर्णन है। पर रस खान के पद्य में प्रेम की जो तन्मयता है वह देव की रचना में नहीं है।

सत्य की सीमा को संकुचित कर देने से ही परस्पर विरोध होता है। ईश्वर में सभी विरोधों का मिलन होता है।

उसी को अपना लक्ष्य मान कर वैष्णव-धर्म ने भारतवर्ष में एक अपूर्व जातीयता की सृष्टि की जिसमें भिन्नता को स्वीकार कर एकता पर दृष्टि रक्खी गई। वैष्णव-भक्तों ने जान लिया कि मनुष्य की यथार्थ मुक्ति किसमें है। नर में नारायण को उपलब्ध करने में ही उसको मुक्ति है। इसी में उसका कल्याण है। इसके लिए तर्क की आवश्यकता नहीं—

मानस हौं तो वही रस खानि
बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा वस मेरो
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को
जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं नित
कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥
या लकुटी अरु कामरिया पर
राज तिहूं पुर को तजि डारौं।
आठहुं सिद्धि नवौं निधि को सुख
नन्द की गाय चराइ बिसारौं।
रसखानि कबौं इन आंखिन सौं
ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूं कलधौत के धाम
करीर के कुञ्जन ऊपर वारौं॥
आयो हुतो नियरे रस खानि
कहा कहूँ तू न गई वहि ठैया।
या ब्रज में सिगरी बनिता सब
बारति प्राननि लेत बलैया।

कोऊ न काहू की कानि करै
कछु चेटक सो जु कर्‌यो जदु रैया।
गाइगो तान जमाइगो नेह
रिझाइगो प्रान चराइगो गैया ॥
सोहत है चंदवा सिर मौर के
जैसियै सुन्दर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल बिराजति
जैसी हिये बनमाल लसी है।
रस खानि बिलोकत बौरी भई
दृगमूंदि कै ग्वालि पुकारि हंसी है।
खोलि री घूँघट खोलौं कहा
वह मूरति नैनन मांझ बसी है ॥
सेस गनेस महेस दिनेस
सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड
अछेद् अभेद सुवेद बतावैं।
जाहि हिये लखि आनँद ह्वै
जड़ मूढ़ हिये रस खानि कहावैं।
ताहि अहीर की छोहरियां
छछियां भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥
तेरी गलीन में जो दिन तें
निकसे मन मोहन गोधन गावत।
ये ब्रज लोग सों कौन सी बात
चलाइ कै जो नहिं नैन चलावत।
वे रसखानि जो रीझि हैं नेकु तो
रीझि कै क्यों बनवारि रिझावत।

बावरी जो पै कलङ्क लग्यो तौ
निसङ्क ह्वै क्यों नहीं अङ्क लगावत ॥

जो लोग श्रीकृष्ण-चरित्र का रहस्य नहीं समझ सके हैं उनके लिए रसखान के ये प्रेमोद्गार भी हृद्गम्य नहीं हैं। भगवान् का लीला-धाम होने के कारण ब्रज-भूमि पवित्र हो गई है। वह पुण्य-भूमि होगई है। वह प्रेम-निकेतन होगई है। ब्रज-भूमि के पशु-पक्षी धन्य है। ब्रज के लता-वृक्षों का जीवन सफल होगया है। ब्रज के स्त्री-पुरुष महिमान्वित हो गये हैं। जिन्होंने भगवान का सांनिध्य प्राप्त कर लिया था, जिन्हें उनका साहचर्य सुलभ था, जिन्होंने उनका साक्षात्कार कर लिया था उनकी पुण्य-महिमा अतुल कैसे नहीं होगी। श्री कृष्ण महात्मा नहीं, देव नहीं, देवराज भी नहीं, साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म हैं। उन्होंने ब्रज-भूमि में प्रेम और भक्ति का मार्ग बतलाया है और ब्रज छोड देने के वाद कर्म और ज्ञान की शिक्षा दी है। अतएव भक्तों के लिए उनकी ब्रज-लीला ही सर्वस्व है।

किन्तु भक्ति की भावना, चरित्र की दृढ़ता चाहिए। जिनमें विश्वास की दृढ़ता है, संयम है, उन्हीं में सर्वस्व-समर्पण, आत्म-तल्लीनता के भाव उदित होते हैं। भारतीय-समाज की उस समय कुछ और ही स्थिति थी। मनुष्य-मात्र का स्वभाव है कि जब उसकी क्रिया-शक्ति निर्बल हो जाती है तब उसकी भाव-शक्ति ख़ूब प्रबल हो जाती है। बाल्य-काल में क्रिया-शक्ति क्षीण रहती है। उस समय बालकों के हृदय में कल्पनाओं और भावों की तरङ्गे उठा करती हैं। जब वृद्धावस्था आती है तब क्रिया-शक्ति निर्बल हो जाती है। उस समय भाव का फिर प्राधान्य हो जाता है। बाल्यावस्था में भाव

कल्पना से अतिरञ्जित होना है और वृद्धावस्था में भाव में शून्यता आ जाती है। यही बात जाति के लिए भी कही जा सकती है। उद्दीयमान जाति की कल्पना में नवीनता, आवेग, उत्साह, वैचित्र्य रहता है। पर जब जाति की शक्ति क्षीण हो जाती है तब उसकी कल्पना में नवीनता नहीं रहती और न उसमें आवेग और उत्साह ही रहता है। उसमें रहती है लालसा की अतृप्ति और अतीत की पुनारावृत्ति। कल्पना का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जाता है। यही करण है कि वैष्णव-धर्म ने आदि-काल में भक्ति का जो आवेग उत्पन्न कर दिया था वह स्थायी न रह सका। दासत्व की शृङ्खला में बद्ध हिन्दू-जाति में भक्ति केवल भावुकता होकर रह गई। यह अवस्था केवल उत्तर-भारत को ही थी। वहीं पराधीनता ने हिन्दू-जाति को उत्साह-शून्य और शक्ति-हीन बना दिया था। परन्तु दक्षिण में मुसलमानों की प्रभुता अच्छी तरह स्थापित नहीं हुई थी। वहां हिन्दू क्षीण-पराक्रम नहीं हो गये थे। वहां भक्ति ने उनके हृदय में नव-शक्ति का संचार कर दिया। भगवद्प्रेम ने स्वदेश-प्रेम और स्वजाति-प्रेम भी उत्पन्न कर दिया। समस्त महाराष्ट्र-जाति एक प्रेम के सूत्र में बद्ध हो गई। भक्ति के कारण उनमें भावुकता नहीं आई, किन्तु निष्काम कर्म करने की शक्ति जागृत हुई।

अपना परिचय सेनापति ने इस प्रकार दिया है—

दीक्षित परशुराम दादो है विदित नाम
जिन कीने यज्ञ जाकी जग में बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके
गंगा तीर बसति अनूप जिन पाई है।

महाजान मनि विद्या दानहू ते चिंतामनि
हीरामनि दीक्षित ते पाई पंडिताई है।
सेना पति सोई सीता पति के प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।

कवि की इस उक्ति में उसका आत्म-गर्व लक्षित होता है। इस गर्व से शक्ति सूचित होती है। यह मिथ्याभिमान नहीं है। जब किसी कवि ने कला को प्राप्त कर लिया है तब उसकी परीक्षा के लिए वह संसार का आह्वान क्यों न करे। श्रेष्ठ कवियों की विनयोक्तियों में भी उनका यही आत्मगर्व छिपा रहता है। सेनापति ने तो स्पष्ट कहा है—

मूढ़न को अगम सुगम एक ताको जाकी
तीखन निगम निधि बुद्धि है अथाह की।
कोई है अभ्यंग कोई पद है सभ्यंग
सोधि देखे सब अंग सम सुधा परवाहकी।
ज्ञयन के निधान छन्द कोष सावधान
जाकी रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
सेवक सियापति को सेनापति कवि सोई।
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की॥
दोष सों मलीन गुनहीन कविताई है
तौ कीने उनवीन परवीन कोई सुनि है।
बिनुही सिखाए सब सीखि हैं सुमति
जो पै सरस अनूप रस रूप या मैं धुनि है।
दूषन को करिकै कवित्त बिनु भूषन को
जो करे प्रसिद्ध ऐसो कौन सुरमुनि है।
राम अरचतु सेनापति चरचतु दोऊ
कवित रचतु याते पद चुनि चुनि है।

अर्थात् मेरी कविता मूर्ख के लिए दुर्गम है। जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण है उन्हीं के लिए यह सुगम है। मैंने साहित्य-शास्त्र का मंथन कर; उसके सब अंगों को शोध कर कविता-मृत का प्रवाह बहाया है। जो रसज्ञ हैं वही मेरी कविता की चाह करेंगे। दूषित कविता किसी भी भाषा में हो उसका मान नहीं होसकता। मेरी कविता में रस है, व्यङ्ग है, अलङ्कार है। उसे सुविज्ञ जन स्वयं, विना किसी के बतलाये ही, पढ़ेंगे। जो दूषित कविता है, जिसमें अलङ्कार भी नहीं है, उसकी प्रसिद्धि देव और मुनि भी नहीं कर सकते। मैंने तो खूब चुन चुन कर एक एक पद लिखा है।

न जाने किस दुःख, किस व्यथा, किस संकट, किस मनोवेदना से पीड़ित होकर उन्होंने कहा है—

महा मोह कन्दनि मैं जगत जकन्दनि मैं
दिन दुख दन्दनि मैं जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है कलेस बहु भांतिन को
सेनापति याही ते कहत अकुलाय कै।
आवै मन ऐसी घर बार परिवार तजौं
डारौं लोक लाज को समाज बिसराय कै।
हरिजन पुञ्जनि में बृन्दावन कुंजनि में
रहौं बैठि कहुं तरुवर तर जाय कै।

कला की सार्थकता इसी में है कि उसका विन्यास बिलकुल अकृत्रिम प्रतीत हो, यह जान ही न पड़े कि कवि ने उसकी सृष्टि में कोई विशेष प्रयास किया है, चुन चुन कर पद रक्खे हैं या अलङ्कारों की योजना की है। निम्नलिखित पद्य में कवि ने पति-पत्नी के प्रेम की साधारण अवस्था का स्वाभाविक चित्र अङ्कित किया है—

फूलन सों बाल की बनाइ गुही बेनी लाल
भाल दीनी बेंदी मृगमद की असित है।
अङ्ग अङ्ग भूषन बनाइ ब्रजभूषन जू
बीरी निज कर तें खवाई अति हित है।
ह्वै कै रस बस जब दीबे को महावर के
सेनापति स्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आंखिन सों
कही प्रानपति यह अति अनुचित है।

हिन्दी-साहित्य के सभी कवियों ने प्रकृति के वर्णन में मानसिक भावों को ही प्रधानता दी है। उनकी रचनाओं में प्रकृति का यथार्थ चित्र कम मिलता है। हिन्दी के एक विद्वान् ने इसका कारण यह बतलाया है कि मनुष्य की श्रेष्ठता पर हमारे धर्मशास्त्रों ने इतना ज़ोर दिया है कि उसके सामने प्रकृति दब सी जाती है। अतः प्रकृति के द्वारा नायिका और नायक के गुणों को उत्कृष्ट कर दिखाना तथा प्रकृतिवत् उनके मानसिक भावों का तारतम्य दिखलाना उन्हें इष्ट है। कुछ भी हो, इसमें तो सन्देह नहीं है कि प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ अन्तः करण का गूढ़ सम्बन्ध है। जब प्रकृति से मनुष्य का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है तब प्रकृति के एक एक स्वर से उसकी हृत्तन्त्री बज उठती है। उधर सूर्योदय हुआ, कमल खिले और इधर मनुष्य का हृत्सरोज विकसित हुआ। पवन के स्पर्श से लतायें लहलहा उठीं और मनुष्य भी प्रफुल्लित हुआ। पशु-पक्षियों के आनन्दोत्सव में वह भी सम्मिलित होता है। अतएव यदि उसके हृदय में विषाद की छाया है तो प्रकृति के उत्सव में वह अपनी व्यथा का अनुभव कैसे नहीं करेगा। तुलसीदास जी ने तो श्रीरामचन्द्र जी की वियोग-व्यथा से पशु-पक्षी की कौन कहे वृक्षों और लताओं तक की

सहानुभूति प्रकट की है। सेनापति की विशेषता यह है कि उनके वर्णन में सर्वत्र स्वाभाविकता है—

केतक असोक नव चंपक बकुल कुल
कौन धौं वियोगिन को ऐसो विकरालु है।
सेनापति सांवरे की सुरत की सुरति की
सुरति कराय करि डारतु बिहालु है।
दच्छिन पवन एती ताहू की दवन जऊ
सूनो है भवन परदेश प्यारो लालु है।
लाल हैं प्रवाल फूले देखत बिसाल जऊ
फूले और साल पै रसाल उर सालु है।

अर्थात् केतकी, अशोक, चम्पा और वकुल इनमें वियोगिनी के लिये कौन सबसे अधिक विकराल है। सभी प्रियतम की सुधि दिलाते हैं। उसकी प्रेम-लीला का स्मरण कराते हैं और तब सभी के कारण व्याकुलता बढ़ती है। आज प्रियतम नहीं है, भवन शून्य है। इसीसे दक्षिण पवन भी जलाने के लिए बह रही है। नव प्रवाल और आम्रमंजरी इनसे भी हृदय में पीड़ा हो रही है।

वृष को तरनि तेज सहसौ किरनि कर
ज्वालन के जाल विकरालु बरसतु हैं।
तचति धरनि जग जरत धरनि सीरो
छांह को पकरि पथी पंछी विरमतु हैं।
सेनापति नेक दुपहरी के ढरत होतु
धमका विषम ज्यों न पातु खरकतु हैं।
मेरे जान पौनो सीरी ठौर को पकरि कोनो
घरी एकु बैठि कहूं घा मैं बितवतु हैं।

अबतो सूर्य अपने हजारों किरण रूपी हाथों से आगो बरसा रहा है। सारी पृथ्वी तप्त होगई है। संसार जलने लगा

है। ठंडी छांह का आश्रय लेकर पथिक और पक्षी रुक जाते हैं। दोपहर ढल जाने पर भी उत्ताप इतना अधिक बढ़ जाता है कि ऐसा जान पड़ता है कि ठंडी हवा भी कहीं चुपचाप घड़ी भर रुक कर समय काटना चाहती है।

सेनापति उनये नये जलद सावन के
चारि हूँ दिसान घुमरत भरे तोइ के।
सोभा सरसाने न बखाने जात कहूं भांति
आने हैं पहार मानों काजर के ढांइ के।
घन सो गगन छयो तिमिर सघन भयो
देखि न परत गयो मानो रवि खोइ के।
चारि मास भरि घोर निसा को भरम करि
मेरे जान याही ते रहत हरि सोइ के।

अर्थात् ये तो सावन के मेघ चारों दिशाओं से उमड़-घुमड़ कर आरहे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मानों ये काजल के पहाड़ ही ढोकर लारहे हैं। आकाश मेघों से ढक गया है। चारों ओर अंधेरा हो गया है। जान पड़ता है कि रवि ही कहीं खोगया है। भगवान् भी रात्रि के ही भ्रम से ये चार महीने सोते रहते हैं।

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति
सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चन्द चांदनी छिटकि रही
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहुँ जगत छीर सागर मगन है॥

कार्तिक की शीतल रात्रि सभी सुखी-जनों को अच्छी लगती है। कुमुद और मालती-पुष्प खिले हैं और आकाश में निर्मल नक्षत्र मोतियों की तरह चमक रहे हैं। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना भी शुभ्र है। सभी श्वेत होगये हैं मानो समस्त संसार क्षीर-सागर में मग्न होगया है।

आयो सखी पूसौ भूलि कंत सों न रूसौ
केलि ही सौं मन मूसौ जीव ज्यों सुख लहतु है।
दिन की घटाई रजनी की अघटाई
सीतताई हू को सेनापति बरनि कहतु है।
याही ते निदान प्रात वेगि उदै होत नाहिं
द्रोपदी के चोर कैसो राति को महतु है।
मेरे जान सूरज पताल तपतालै मांझ
सीत को सतायो कहलाइ कै रहतु है।

पूस में दिन घट जाता है, रात बढ़ जाती है, ठंड भी खूब पड़ने लगती है। रात तो इतनी बड़ी होजाती है कि द्रोपदी के चीर की तरह उसका अन्त ही नहीं होता। सूर्यदेव भी ठंड के कारण पाताल लोक में कुछ गर्मी लेने के लिए रह जाते हैं।

सिसिर में तो दिन और रात में भेद ही नहीं रहजाता—

सिसिर में ससि को सरूप पावे सबिताऊ
घामहु में चांदनी की दुति दमकति है।
सेनापति होति सीतलता है सहसगुनी
रजनी की झांई वासर में झमकति है।
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चन्द के भरम होत मोद है कुमोदनी को
ससि संक पंकजनी फूलि न सकति है।

बिहारी लाल जी के विषय में इतना ही प्रसिद्ध है कि वे महाराज जयसिंह के सभा-कवि थे। अपने विषय में उन्होंने सतसई के अन्त में लिखा है—

जन्म लियो द्विजराज कुल प्रगट बसे ब्रज आय।
मेरो हरो कलेस सब केसव केसवराय।

बिहारी लाल जी का जीवन-काल राजसभा में व्यतीत हुआ था। उन्हें राज-सभा का पूरा अनुभव था। उन्होंने अपने अनुभव को अपनी कविताओं में यत्र-तत्र प्रकट भी किया है। यदि उन्होंने ने श्रीमानों के वैभव और उनकी उदारता आदि गुणों की प्रशंसा की है तो उन्होंने उनकी विलास-प्रियता और दाम्भिकता आदि दुर्गुणों की निन्दा भी की है। उनके विषय में यह एक प्रसिद्ध कथा है कि जब राजा जयसिंह विलास में पड़कर अपने कर्तव्य से पराङ्मुख होगये थे तब उन्होंने निम्नलिखित पद्य से उनको चेतावनी दी थी—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सो विंध्यो आगे कौन हवाल।

यह चेतावनी तो बड़ी कोमल है परन्तु उन्होंने श्रीमानों की मदान्धता की सदैव तीव्र निन्दा की है—

कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है यह पाये बौरात।

कितने ही श्रीमान् दुर्गुणों से युक्त होने पर भी यश और कीर्ति के इच्छुक होते हैं। उनके सम्बन्ध में कवि का यह दोहा बिलकुल उपयुक्त है—

बड़े न हूजै गुननि बिनु विरद बड़ाई पाय।
कनक धतूरे सों कहत गहना गढ़ो न जाय।

राजसभा में सभी तरह के लोग रहते हैं। सम्भव है कि कुछ लोग विहारी के निन्दक रहे हों या उनकी कविताओं की उपेक्षा ही की हो। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में उन्होंने बड़ी अच्छी उक्तियां कही हैं।

सीतलताऽरु सुगन्ध की महिमा घटी न मूर।
पीनसवारे जो तज्यो सोरा जानि कपूर।
गिरि तें ऊंचे रसिक मन बूड़े जहां हजार।
वहै सदा पसु नरन को प्रेम पयोधि पगार।

जो लोग अयोग्य होकर भी अपनी मर्मज्ञता बतलाने का दुस्साहस करते हैं उनका उन्होंने खूब उपहास किया है-

कर लै सूंघि सराहि कै रहै सबै गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब को गंवई गाहक कौन।
चले जाउ ह्यां को करत हाथिन को ब्योपार।
नहिं जानत या पुर बसत धोबी और कुम्हार।

जान पड़ता है कि उन्हें अपने जीवन-काल के अन्त में भव-बाधा से ग्रस्त होना पड़ा। उनकी निम्नलिखित उक्तियों से यही बात प्रकट होती है—

को छूट्यो इहि जाल परि कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरभि भज्यो चहत त्यौं त्यौं उरझत जात।
मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परे स्याम हरित दुति होय।

फिर भी आशा थी—

इहै आस अटक्यो रहै अलि गुलाब के मूल।
हुइ हैं बहुरि बसन्त ऋतु इन डारनि वे फूल।

कहा नहीं जा सकता कि उनके जीवन में फिर वसन्त आया या नहीं परन्तु उनके पद्यों से प्रगट होता है कि उन्हें संसार और सांसारिक वैभव से विरक्ति हो गई थी—

यह बिरिया नहिं और की तू करिया वह सोधि ।
पाहन नाव चढ़ाय जिनि कीन्हे पार पयोधि ।

× × ×

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय ।
जातन की झांई परे स्याम हरित दुति होय ।

अर्थात् वही राधा मेरी भव बाधा को दूर करें जिनके शरीर की परछांई पड़ने से श्याम की कांति हरी होजाती है ।

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उरमाल ।
यहि बानिक मो मन बसो सदा बिहारी लाल ।

सिर पर मुकुट, कमर में काछनी, हाथ में मुरली और हृदय पर माल; कृष्ण का यह रूप मेरे हृदय में निरन्तर बना रहे।

सघन कुंज छाया सुखद सीतल मन्द समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर ।।

सघन कुंज है, सुखद छाया है, शीतल मन्द पवन है । ऐसा जान पड़ता है कि आज भी वही यमुना के तट पर है ।

जहां जहां ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग सिर मौर ।
उनहूं बिन छिन गहि रहत द्रुगनि अजहुं वह ठौर ।

जहां मैंने कृष्ण को देखा था वहां उनके न रहने पर भी वह स्थान नेत्रों को खींच ही लेता है ।

सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात ।
मनो नीलमणि सैल पर आतप पर्‌यो प्रभात ।

श्याम शरीर पर पीताम्बर ओढ़े कृष्ण ऐसे शोभायमान हैं मानों नील गिरि पर प्रभात की स्वर्ण-कान्ति ।

अधर धरत हरि के परत ओठ डीठ पट जोति।
हरित बांस की बांसुरी इन्द्र धनुष सी होति।

अधरों पर रखते ही उनके अधर और दृष्टि और वस्त्र की ज्योति पड़ने के कारण हरे बाँस की वंशी में इन्द्र धनुष की तरह वर्ण-वैचित्र्य आ जाता है।

लिखन बैठि जाकी सिबिहिं गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

कितने ही चित्रकार उसका चित्र खींचने के लिए बड़े गर्व से बैठे। पर कोई भी सफल नहीं हुआ।

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रंग त्यौं त्यौं उज्वल होय।

प्रेमी के चित्त की अवस्था कौन समझ सकता है। श्याम के रंग में डूबने से उसमें उज्ज्वलता आती है।

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिये दई नई यह रीति।

उलझते तो नेत्र हैं, कुटुम्ब टूटता है, प्रीति जुड़ती है, दुर्जनों के हृदय में गांठ पड़ती है।

सखी सिखावति मान विधि सैनन बरजति बाल।
हरे कहै मो हाय मों बसत बिहारी लाल।

सखी मान विधि सिखलाना चाहती है तब वह सेन से रोक देती है। यह क्या कह रही है, मेरे हृदय में तो कृष्ण हैं। वे तो सुन लेंगे।

देखौं जागि त वैसिये सांकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जाति भजि को जानै केहि बाट।

जाग कर देखती हूं तो कपाट में सांकल लगी ही हुई है। फिर वह किस रास्ते से आता जाता है।

नैना नेकु न मानहीं कितो कहौं समझाय।
तन मन हारे हू हँसैं तिनसों कहा बसाय।

ये नेत्र तो मानते ही नहीं, सब कुछ खोकर भी हँसते ही हैं।

लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं।
ये मुंहजोर तुरंग लौं ऐंचत हू चलि जाहिं।

ये नेत्र तो लाज-रूपी लगाम को मानते ही नहीं। मुंह-जोर घोड़े की तरह लगाम खींचने पर भी ये उधर, कृष्ण की ओर, चले ही जाते हैं।

इन दुखिया अंखियान को सुख सिरजोई नाहिं।
देखत बनै न देखते बिन देखे अकुलाहिं।

इन बेचारी आंखों के भाग्य में सुख ही नहीं है। जब देखने का अवसर रहता है तब तो देखते नहीं बनता और बिना देखे व्याकुल होती हैं।

मन मोहन सों मोह कर तू घनश्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि गिरिधारी उर धारि।

अरे मन, तू मोहन पर मुग्ध हो; घनश्याम को देख, कुंजबिहारी से विहार कर, गिरधारी को हृदय में रख।

ब्रजबासिन को उचित धन जो धन रुचित न कोय।
सु चित न आयो सुचितई कहौ कहां ते होय।

वह श्याम शरीर जो ब्रज-वासियों का धन है चित्त में नहीं आया तो शान्ति होगी कहां से।

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनो तारन विरद बारक बारन तारि।

हमारी विनय व्यर्थ हुई। आपने तो अच्छा हाल किया। एक बार हाथी का उद्धार कर आपने अब तारना ही छोड़ दिया।

थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनो भये आज कालि के दानि।

आपका वह स्वभाव नहीं रहा जब थोड़े ही गुण पर रीझ जाते थे। अब तो आप भी कलियुग के दानी होगये।

कब को टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहू लागी जगतगुरु जगनायक जग बाय।

कबसे पुकार रहा हूँ तो भी तुम सहायता नहीं करते। तुम्हें भी क्या इस दुनिया की हवा लग गई है।

कीजै चित सोई तरे जिहि पतितन के साथ।
मेरे गुन औगुन गनन गनौ न गोपी नाथ।

जैसा मन में आवे कीजिए, किसी भी के साथ मेरा उद्धार कीजिये। अब मेरे गुण और दोष की गणना न कीजिए।

कोऊ कोरिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा विपति विदारन हार।

कोई हजार, लाख और करोड़ संग्रह करो। मेरी सम्पत्ति तो संकटों को दूर करने वाला कृष्ण है।

ज्यौं ह्वै हौं त्यौं होहुंगो हौं हरि अपनी चाल।
हठ न करो अति कठिन है मो तारिबो गोपाल।

मैं जैसा हूं वैसा ही बना रहूंगा। मेरा उद्धार करना बड़ा कठिन है।

करौ कुबत जग कुटिलता तजौं न दीन दयाल ।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल ।

मैं तो अपनी टेढ़ी चाल नहीं छोड़ूंगा । भला सीधे चित्त में रह कर त्रिभंगीलाल जी कष्ट न पावेंगे ।

मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस को जीते जदुराज ।
अपने अपने बिरद की दुहुन निबाहन लाज ।

अब तो मुझ में और तुममें विवाद बढ़ गया है । देखें कौन जीतता है । मैं पापी हूं, पाप करता ही जाऊंगा और आप पतित-पावन हैं, आप पापों को दूर करेंगे ।

निज करनी सकुचेहिं कत सकुचावत इहिं चाल ।
मोहू तें नित विमुख त्यौं सनमुख रहि गौपाल ।

मैं अपने कुकृत्यों से योंही लज्जित हूं और आपका यह व्यवहार मुझे और भी लज्जित कर रहा है । मेरे समान विमुख के सम्मुख आप होते हैं ।

हौ अनेक अवगुन भरी चाहै याहि बलाय ।
जो पति सम्पति हू बिना जदुपति राखे जाय ।

जब बिना सम्पति के ही कृष्ण मेरी प्रतिष्ठा रख रहे हैं तब यह दोषों से भरी सम्पति नष्ट ही हो ।

हरि कीजत तुमसों यहै विनती बार हजार ।
जेहि तेहि भांति डरो रहौं परौ रहौं दरबार ।

हे नाथ मैं तो तुमसे बारम्बार यही प्रार्थना करता हूँ । किसी भी तरह हो मुझे आप अपने आश्रय में ही पड़े रहने दीजिए ।

षष्ठ परिच्छेद

[१]
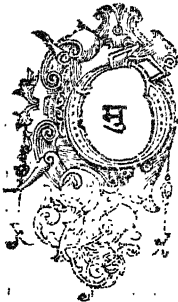
मुगलों का प्रभुत्व क्षीण होने पर हिन्दू एक बार फिर भारतवर्ष में हिन्दू-साम्राज्य का स्वप्न देखने लगे। उत्तर में सिक्खों ने और दक्षिण में मरहठों ने मुगलों के विरुद्ध युद्ध किया। राजपूत-नरेश भी मुगलों के विरुद्ध खड़े हुए। मुसलमानों में भी जो प्रबल थे वे स्वतन्त्र-राज्य स्थापित करने लगे। मुगलों के पतन का सबसे बड़ा कारण है औरंगज़ेब की धार्मिक असहिष्णुता। जो राजपूत-नरेश अकबर के शासन-काल में मुगल-साम्राज्य के स्तम्भ थे, वे पृथक् होगये। पर आश्चर्य की बात यह है कि जिस प्रान्त पर सबसे अधिक धार्मिक अत्याचार हुआ उसने मुगलों के विरुद्ध वैसी उत्ते-

जना प्रदर्शित नहीं की जैसी सिक्खों अथवा मरहठों ने। मरहठों के प्रति उनकी सहानुभूति भले ही रही हो, पर वह सहानुभूति क्रिया-हीन थी। चतुर मरहठों ने अपने राज्य-विस्तार के लिए उस सहानुभूति से पूरा लाभ उठाया। उन्होंने हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों पर अधिकार भी कर लिया। कुछ काल के लिए तो सर्वत्र महाराष्ट्र का ही आधिपत्य स्थापित हो गया। तो भी देश की अवस्था में परिवर्तन न हुआ। इसी प्रकार पञ्जाब में सिक्खों का अधिकार हो जाने पर भी वहां हिन्दू-जाति में जाग्रति का कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया। सच तो यह है कि मरहठे, सिक्ख अथवा राजपूत मुगलों के विरुद्ध खड़े तो हुए पर उनमें केवल प्रान्तीयता या साम्प्रदायिकता का ही भाव काम कर रहा था। मुगलों के विरुद्ध जो युद्ध हुआ वह स्वाधीनता के लिए जनता का युद्ध नहीं था, परन्तु अपनी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का ही युद्ध था। जिनमें जितनी प्रतिभा थी, जितनी शक्ति थी, उन्होंने उतनी ही सफलता प्राप्त की। भूषण भले ही इस संशय में पड़े रहे कि वे साहू की प्रशंसा करें या छत्रसाल की पर सच पूछो तो हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में न तो कहीं स्वाधीनता का भाव जाग्रत हुआ और न कहीं कर्मण्यता का चिन्ह प्रकट हुआ। छत्रसाल के बाद बुन्देलखण्ड में भी मरहठों का राज्य स्थापित होगया। तुकाराम, नामदेव आदि दक्षिण के सन्तों ने महाराष्ट्र जाति को धर्म के बन्धन से दृढ़ कर प्रबल बना दिया था पर मध्ययुग के प्रारम्भ में उत्तर-भारत में जिन धार्मिक भावों ने एक नवीन शक्ति उत्पन्न कर दी थी वे बिलकुल शिथिल हो गए थे। यही नहीं, उनके कारण वहां अधिक धार्मिक सङ्कीर्णता, अधिक साम्प्रदायिकता आगई थी। तुलसीदास

और सूरदास ने उन्हें धर्म के पथ तो दिखलाये, पर कर्म का पथ दिखलाने वाला कोई भी कवि नहीं हुआ। यही कारण है कि महाराष्ट्र-प्रान्त में तो साहित्य ने नवश्री प्राप्त की, परन्तु हिन्दी-साहित्य में कहीं भी नवीनता नहीं आई। भूषण की रचनायें साहित्य-शास्त्र की ही रचनायें हैं। उन्होंने शिवाजी और छत्रसाल की जैसी प्रशंसा की है वैसी प्रशंसा करना उस काल के सभी कवि अपना कर्तव्य समझते थे। गंग ने खानखानाकी प्रशंसा में लिखा है—

राजे भाजे राज छोड़ि रन छोड़ि रजपूत
रौतो छोड़ि राउत रनाई छोड़ि राना जू।
कहै कवि गंग हूल समुद के चहूं कूल
कियौ न करै कबूल तिय खसमाना जू।
पश्चिम पुरतगाल कासमीर अवताल
खक्खर को देस बाढ्यो भक्खर भगाना जू।
रूम, साम, लोम, सोम, बलक बदाखशान
खैल फैल खुरासान खीझे खानखाना जू॥
कापि कश्मीर तें चल्यो है दल साजि वीर
धीर न धरत गल गाजिवे को भीम है।
सुन्न होत सांझे ते बजत दन्त आधीरात
तीसरे पहर में दहल दै असीम है।
कहै कवि गंग चौथे पहर सतावै आनि
निपट निगोरे मोहिं जानि कै यतीम है।
बाढ़ी शीत शंका कांपै कर ह्वै अतङ्का
लघु शङ्का के लगे ते होत लङ्का की मुहीम है।

भूषण ने भी इसी शैली का अनुकरण किया है। कहा जाता है कि भूषण का नाम कुछ दूसरा ही था। एक राजा

ने उन्हें कवि-भूषण की उपाधि दी और तब से वे भूषण के नाम से ही प्रसिद्ध होगये। भूषण की रचनाओं में सर्वत्र कला की ही प्रधानता है। उन्होंने अपनी उक्तियों में सदैव चमत्कार लाने का प्रयत्न किया है। उनकी वन्दना में भी यही उक्ति-वैचित्र्य है—

विकट अपार भव पन्थ के चले को श्रम
हरन करन बिजना से ब्रह्म ध्याइए।
यहि लोक परलोक सुफल करन कोक—
नद से चरन हिए आनि कै जुड़ाइए।
अलि कुल कलित कपोल ध्यान ललित
अनन्द रूप सरित मैं भूषण अन्हाइए।
पाप तरु भंजन विघन गढ़ गंजन
जगत मन रंजन द्विरदमुख गाइए।

भव के विकट पथ को पार करने में जो श्रम होता है उसे दूर करने के लिए पंखे के समान कान जिसके हैं उस ईश्वर का ध्यान कीजिए। इहलोक और परलोक को सफल करने के लिए उनके चरण कमल को अपने हृदय में रखिए। उनके कपोलों पर मद की सुगन्धि से भौंरे मड़रा रहे हैं। उनकी इस मूर्ति का ध्यान निरन्तर कीजिए। पाप-रूपी वृक्षों को तोड़ने वाले, विघ्न रूपी किलों को नष्ट करने वाले संसार को प्रसन्न करने वाले गणेश की वन्दना कीजिए।

शिवाजी के पहले उन्होंने साहजी की भी प्रशंसा की है—

एते हाथी दीन्हे माल मकरन्द जू के नन्द
जेते गनि सकति विरंचि हू की न तिया।

भूषन भनत जाकी साहिबी सभा के देखे
लागैं छितिपाल सब और छिति मैं छिया।
साहस अपार हिन्दुवान को अधार धीर
सकल सिसोदिया सपूत कुल को दिया।
जाहिर जहान भयो साहि जू खुमान बीर
साहिन को सरन सिपाहिन को तकिया।

मालोजी के पुत्र शाहजी ने इतने हाथो दिये कि सरस्वती भी उनकी गणना नहीं कर सकती। उनकी राज्य-श्री को देख कर सब राजाओं की श्री क्षीण होगई। वे बड़े साहसी, हिन्दू-जाति के स्तम्भ, कुल के प्रदीप, राजाओं के आश्रयदाता और सिपाहियों के अवलम्ब थे।

अब शिवाजी की प्रशंसा सुनिए—

कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि
कीन्ही सिवराज वीर अकह कहानियां।
भूषन भनत तिहूं लोक में तिहारी धाक
दिल्ली औ बिलाइत सकल बिललानियाँ।
आगरे अगारन ह्वै फांदती कगारन छ्वै।
बांधती न बारन मुखन कुम्हलानियां।
कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहे भगी जाहिं।
बीबी गहे सूथनी सुनीबी गहे रानियां।

अर्थात् अपनी तलवार से शिवाजी ने मुगलों की सेना नष्ट कर डाली। तीनों लोकों में उनका आतङ्क छा गया। दिल्ली से लेकर विलायत तक सभी देश व्याकुल होगये। बेगमें और रानियां आगरे के महलों से कूद कूद कर भागी जारही हैं। उनके मुख कुम्हला गये हैं। वे बालों तक को नहीं बांध रही

हैं। बेगमें पायजामा को, रानियां नीवी को पकड़े चली जा रही हैं।

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखो बदन बिलखात बिजैपुर पति
फिरत फिरंगनि की नारी फरकति है।
थर थर कांपत कुतुब साह गोल कुंडा
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पातसाहन की छाती दरकति है।

अर्थात् शिवाजी के नगाड़ों की आवाज सुनकर औरंगज़ेब बार बार चौंक पड़ता है। दिल्ली वाले डर रहे हैं। बीजापुर का नरेश तो विलाप कर रहा है और अंगरेज़ों की नाड़ी फड़क रही है। गोलकुंडा का कुतुब शाह तो थर थर कांप रहा है। और हबशी राजा भी भागरहा है। सभी बादशाहों के कलेजे फटे जारहे हैं।

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहत छाती
बाढ़ि मरजाद जस हद्द हिन्दुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धकधका
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय मुंड
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की।

अर्थात् मुसलमानों का हृदय जल रहा है। भारत

की मर्यादा बढ़ गई है। हिन्दू-प्रजा के हृदय की कसक दूर हो गई है। मुसलमानों का गर्व नष्ट हो गया है। औरंगज़ेब का हृदय कांप रहा है। मुगलों की सम्पत्ति क्षीण होगई है।

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो
अस्मृति पुरान राखे बेद विधि सुनी मैं।
राखी राजपूती रजधानी राखी राजन की
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं।
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की
देस देस कीरति बखानी तव सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं॥
वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की
कांधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे बादसाह
बैरी पीस राखे वरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में।

अर्थात् आपने हिन्दू का हिन्दुत्व रक्खा, वैदिक विधि की रक्षा की। क्षत्रियों का क्षत्रित्व और राजाओं की राजधानी बचाई। आपकी तलवार ने दिल्ली की सेना को दबाकर धर्म की मर्यादा स्थापित की। आपके ही कारण वेद, पुराण, रामनाम, चोटी, रोटी, यज्ञोपवीत और माला सुरक्षित है, मन्दिर में देव और घर घर में धर्म है।

यह भूषण की कल्पना नहीं थी। उन्हें सचमुच यही विश्वास था। उस समय धार्मिक अत्याचारों की वृद्धि ही ऐसी हो रही थी—

देवल गिरावते फिरावते निसान अली
ऐसे डूबे राव राने सबे गये लबको।
गौरा गनपति आप औरन को देत ताप
आपके मकान सब मारि गये दबकी।
पीरा पयगंबरा दिगंबरा दिखाई देत
सिद्ध की सिधाई गई रही बात रब को।
कासिहु की कला जात मथुरा मसीद होती
शिवाजी न होतो तो सुनति होति सबकी।

औरंगज़ेब का चित्र निम्नलिखित पद्य में अङ्कित किया गया है—

हाथ तसबीह लिये प्रात उठै बन्दगी को
आप ही कपट रूप कपट सु जप के।
आगरे में जाय दारा चौक में चुनाय लीन्हो
छत्र हू छिनायो मानो मरे बूढ़े बप के।
कीन्हों है सगोत घात सो मैं नाहिं कहौं फेरि
पील पै तोरायो चार चुगल के गपके।
भूषन भनत छरछन्दी मतिमन्द महा
सौ सौ चूहे खाय के बिलारी बैठी तप के।

भूषण में कवित्व-शक्ति कितनी भी रही हो, इस में सन्देह नहीं कि उन्हों ने अपने विषय की महत्ता पर ध्यान नहीं दिया। उन्हों ने लिखा तो शिवाजी पर किन्तु शिवाजी के चरित्र की विशालता उन्होंने प्रकट नहीं की। जो कवि

किसी उदात्त विषय को चुनता है उस को यह भी मालूम रहता है कि वह कौनसी चीज है जो उसक. महत् बनाये हुए है। तब वह उसके वीर-भाव और उदात्त-वृत्तियों को यथार्थ रूप से अङ्कित करता है। इसके विपरीत भूषण केवल शब्दों की छटा, कृत्रिम भावों की योजना और अलङ्कारों के विन्यास में ही लगे रहे हैं। (सच्ची बात यह है कि उनकी कविता में सर्वत्र मानसिक -क्षोभ है, अनुभूति है नहीं।)

उक्ति-वैचित्र्य और अलङ्कारों के चमत्कार में भूषण भले ही श्रेष्ठ कवि हों पर विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से लाल कवि का ही आसन उनसे ऊंचा रहेगा। सच पूछा जाय तो वीर-रस का काव्य एक-मात्र छत्र-प्रकाश ही कहा जा सकता है। उनकी यह रचना सभी प्रकार से प्रशंसनीय है—उनकी प्रशंसोक्तियों में कहीं भी अनौचित्य नहीं है। स्पष्टता, स्वाभाविकता और सत्यता, ये उनके प्रधान गुण हैं। उसका प्रारम्भिक भाग कितना अच्छा है—

एक रदन सिंधुर वदन दुरबुधि-तिमिर दिनेश।
लम्बोदर असरन सरन जै जै सिद्धि गनेश।
सिद्धि गनेश बुद्धि वर पाऊं।
कर जुग जोरि तोहि सिर नाऊं।
तू अघ के अघ ओघन खंडै।
अधिक अनेकन विघन बिहंडै।
प्रथम करै सुर नर मुनि पूजा।
और कौन गनपति सम दूजा।
भौभंजन नेसक गुन गाये।
मूसक बाहन मोदक पाये।
उच्च कुंभ सिंदूर चढ़ाये।

रबि उदयाचल छबिहिं बढ़ाये।
अकुंस लिये दरद को दाटै।
विकट कटक संकट के काटै।

काटै संकट के कटक प्रथम तिहारी गाथ।
मोहि भरोसो है सही दै बानी गननाथ।

जै जै जै आनन्दित बानी।
तुही सत्य चैतन्य बखानी।
तुही आदि ब्रह्मा की रानी।
वेद पुरानमयी तू जानी।

तू विद्या तू बुद्धि है तुही अविद्या नाम।
तू बांधै सब जगत को तू छोरै परिनाम।

तेरी कृपा लाल जो पावै।
तौ कवि रीति बुद्धि बिलसावै।
कविता रीति कठिन रे भाई।
बाहिन समुद्र पैर नहिं जाई।
बड़ो बंस बरनौ जो चाहौं।
कैसे सुमति सिन्धु अवगाहौं।
चहूं ओर चंचल चितु धावै।
विमल बुद्धि ठहरान न पावै।
बांधी विषै सिंधुकी डोरै।
फिरि फिरि लोभ लहर में बोरै।
जो उर विमल बुद्धि ठहराई।
तौ आनन्द सिंधु लहराई।
उठी अनन्द सिंधु की लहरैं।
जस मुक्ता ऊपर ह्वै छहरैं।
छहरि छहरि छिति मंडल छायौ।

सुनि सुनि वीर हियौ हुलसायौ ।
दान दया घमसान में जाकै हिये उछाह ।
सोई बीर बखानिये ज्यों छत्ता छितिनाह ॥

भूमिनाह को बंस बखानौं ।
सबही आदि भानु को जानौं ।
एक भानु सब जग को तारौ ।
जहां भानु सै देखि उज्यारौ ।
सुर नर मुनि दिन अंजलि बांधै ।
करत प्रनाम भगति कौ कांधै ।
एकचक्र रथ पै चढ़ि धावै ।
सकल गगन मंडल फिर आवै ।
साठि हजार असुर नित मारै ।
धरम करम दिन प्रति विस्तारै ।
कमल क्यौं न मुसक्याइ निहारै ।
लच्छि देत कर सहस पसारै ।
करनि वरष जल जगत जिवावै ।
चोर कहूं संचार न पावै ।
काल बांधि निजु गति सो राख्यौ ।
एक जीभ जस जात न भाख्यौ ।

भाख्यौ जात न जासु जस ऐसै उदित दिनेस ।
ताकै भयो महाबली मनु उद्दण्ड नरेश ।

× × ×

कुल मंडन परसिद्ध अति भयो भागवत राइ ।
ताके पूरन पुन्य में लगे चारि फल आइ ।

ताके पुन्य चारिफल लागे।
खरग राइ अरु चन्द सभागे।
सुभट सुजान राइ सुखदाई।
सब को चम्पत राइ सहाई।
चारिउ भैया उदभट जानौ।
चारिउ भुजा विष्णु की मानौ।
चारिउ चरण पुन्य छबि छायौ।
चारिउ फलन देन जनु आयौ।
हिन्दवान सुरगज उर आनौं।
ताके चार्‌यौ दन्त बखानौं।
चारौं अंग चमू जिन राखी।
चारौं समुद जीति अभिलाषी।
अन्तःकरन चारि हुलसाये।
चारिउ चक्र सुजस बगराये।
हरि के आयुध चारि गनाये।
ते जनु छिति रच्छन को आये।

यद्यपि आयुध विष्णु के चार्‌यो छबि उद्दाम।
पै दानव दल दलन कौं गदा चक्र सों काम॥

जदपि गदा को बड़ी बड़ाई।
पै कछु और चक्र की धाई।
गदा समान सुजान बखानौ।
चम्पतिराय चक्र उर आनौ।
गनै कौन चम्पति की जीतैं।
गनपति गनै तऊ जुग बीतैं।
साहिजहाँ उमड्यो घन घोरा।
चम्पति झंझा पवन झकोरा।

साहि कटक झक झोर झुलायो।
गिल्यो बुन्देलखंड उगिलायो।
चम्पत करी साह सों ऐंड़ैं।
पैठि न सक्यौ मुगल दल मेड़ैं।
सूबा जिते साहि के चांड़े।
चम्पति राइ घेरि सब डांड़े।
बुधि बल चम्पति भयो सहाई।
आलमगीर दिलो तब पाई।

चम्पतिराइ नरिन्द्र के प्रगटे पांच कुमार।
मंडे कुल बरम्हंड में जिनके जस विस्तार।

तिन मैं छत्रसाल छबि लीनी।
निज बस भूमि भावतो कीनी।
तौ गुन छत्रसाल के गइयै।
कैयक सहस जीभ जो पइयै।

उपर्युक्त अवतरण में कविता के सभी गुण विद्यमान हैं। लाल कवि की विशेष प्रसिद्धि न होने का एक-मात्र कारण है विकृत लोक-रुचि। सच तो यह है कि साहित्य के निर्माण में लोक-रुचि का बड़ा प्रभाव पड़ता है। भूषण, लाल, सूदन अथवा मतिराम की कवित्व-शक्ति में हमें सन्देह नहीं है। पर उन दिनों जनता स्थूल भावों पर ही अनुरक्त थी। शक्ति में शारीरिक-शक्ति ही उनको विस्मित कर सकती थी और सौन्दर्य में बाह्य-सौन्दर्य, शारीरिक-सौन्दर्य, ही उनको मुग्ध कर सकता था। रण-विद्या, सैन्य-सञ्चालन, राज्य-शास्त्र, राजनीति इन सब को छोड़ कर एक-मात्र तलवार की चोट से सैकड़ों के सिर कटवाने में ही लोग शौर्य की परा-काष्ठा समझते थे। उसी प्रकार नायिका के नख-शिख

वर्णन में ही वे सौन्दर्य की सीमा मानते थे। इन दोनों में ही अतिशयोक्ति की प्रधानता है। भूषण के छत्रसाल ही एक-मात्र हिन्दू की ढाल नहीं थे। राव भाऊ सिंह भी 'हिन्दुन को ढाल' थे। वे भी जब क्रुद्ध होते थे तब रण-भूमि को शत्रुओं के चर्म से आच्छादित कर देते थे। वे तेज में रवि के समान, सौन्दर्य में चन्द्रमा के समान और राजाओं में इन्द्र के समान थे। वे संसार के सन्ताप को दूर करते थे। सच तो यह है—

भूमि पुरन्दर भाऊ के हाथ पयौद नहीं वर काज ठये हैं।
पन्थिन के पथ रोकिबे कौ घने वारिदवृन्द वृथा उनये हैं।

अब सुजान के सम्बन्ध में सूदन की दो प्रसिद्ध उक्तियां सुन लीजिए—

सेलनु धकेला तें पठान मुख मैला होत
केते भट मेला हैं भजाये भुव भंग मैं।
तंग के कसे ते तुरकानी सब तंग कीनी
दंग कीनी दिल्ली औ दुहाई देत बंग मैं।
सूदन सराहत सुजान किरवान गहि
धायो धीर धारि बीरताई की उमङ्ग मैं।
दक्खिनी पछेला करि खेला तैं अजब खेल
हेला मारि गङ्ग मैं रुहेला मारे जङ्ग मैं।

और भी—

महल सराय से रवाने बुआ बूबू करो
मुझे अफसोस बड़ा बड़ी बीबी जानी का।
आलम में मालुम चकत्ता का घराना यारो
जिसका हवाल है तनैया जैसा तानी का।

खने खाने बीच से अमाने लोग जाने लगे
आफत ही जानो हुआ औजु दहकानी का।
रब की रजा है हमें सहना बजा है
वक्त हिन्दू का गजा है आया छोर तुरकानी का।

इसमें सन्देह नहीं कि मुसलमानों के आधिपत्य का अन्तिम दिवस आगया था। पर हिन्दुओं का 'वक्त' क्षणिक ही था। कुछ ही दिनों में समग्र देश हो पराधीन होगया।

मतिराम भूषण के छोटे भाई कहे गये हैं। वे बूंदी के महाराज भाऊसिंह के आश्रय में रहे। उन्हीं के मनोविनोद के लिए, उन्हीं की प्रशंसा से पूर्ण, उन्होंने ललित-ललाम नामक ग्रन्थ की रचना की।—

बाजत नगारे जहां गाजत गयन्द तहां
सिंह सम कीनो बीर संगर बिहार हैं।
कहै मतिराम कवि लोगनि कौं रीझि करि
दीने ते दुरद जे चुवत मद धार हैं।
शत्रुसाल नन्द राव भावसिंह तेग त्याग
तोले और औनितल आजु न उदार हैं।
हाथिन बिदारिबे को हाथ हैं हथ्यार तेरे
दारिद बिदारिबे को हाथियै हथ्यार हैं।

अर्थात् जहां नगाड़े बज रहे हैं, हाथी चिंग्घाड़ रहे हैं, ऐसे रणस्थल में सिंह के समान भाऊसिंह क्रीड़ा करते हैं। जब भाऊसिंह कवियों पर प्रसन्न हो जाते हैं तब वे मदीले हाथी उनको देडालते हैं। पृथ्वी पर उनके समान उदार और कौन है। उनके हाथ हाथियों को नष्ट करने के लिए जैसे हथियार हैं वैसे ही दारिद्र को नष्ट करने के लिए भी हैं।

और भी—

विक्रम मैं विक्रम धरम सुत धरम मैं
धुन्धमार धीर मैं धनेस वारौं धन मैं।
मतिराम कहत प्रियव्रत प्रताप मैं
प्रबल बल पृथु पारथहिं वारौं पन मैं।
शत्रुसाल नन्द रैया राव भावसिंह आजु
मही के महीप सब वारौं तेरे तन मैं।
नल वारौं नैननि मैं बलि वारौं बैननि मैं
भीम वारों भुजन मैं करन करन मैं॥
गुच्छनि के अवतंस लसै
सिखिपच्छनि अच्छ किरीट बनायो।
पल्लव लाल समेत छरी कर—
पल्लव में मतिराम सुहायो।
गुञ्जनि के उर मंजुल हार निकुञ्जनि
ते कढ़ि बाहिर आयो।
आज को रूप लखे ब्रजराज को
आजहि आंखिन को फल पायो।

अर्थात् कान में फूलों के गुच्छे, सिर पर मयूर-पुच्छ का किरीट, हाथ में फूलों की छड़ी, हृदय पर हार, ऐसे ब्रजराज को निकुंज से बाहर निकलते हुए जिसने आज देख लिया उसने नेत्र का फल पालिया।

कुन्दन को रंग फीको लगै
झलकै असि अंगनि चारु गोराई।
आंखिन में अलसानि चितौनि में
मंजु विलासन की सरसाई।
कोटिन मोल बिकात नहीं
मतिराम लहै मुसुकान मिठाई।

ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैनन
त्यों त्यों खरी निकरै सुनिकाई ।

उसके शरीर की शुभ्रता के सामने कुन्द भी अगण्य हैं। आंखों में आलस्य है और दृष्टि में विलास की सरसता है। मुस्कान पर तो करोड़ों न्यौछावर है। जितना ही अधिक आप देखिए उतनी ही अधिक सुन्दरता होती जायगी।

आपने हाथ सों देत महावर
आपहि बार श्रृङ्गारत नीके ।
आपनहीं पहिरावत आनि कै
हार संवारि कै मौलसिरी के ।
हौं सखि लाजन जात गड़ी
मतिराम स्वभाव कहा कहौं पीके ।
लोग मिलैं घर घेरे कहैं
अब हीं ते ये चेरे भये दुलही के ।

अर्थात् अपने ही हाथों से वे मेरा सारा श्रृंगार करते हैं। सखी, मैं तो लाज के मारे मरी जा रही हूं। सब लोग कहते हैं कि ये तो अभी से अपनी पत्नी के दास होगये हैं।

प्यार पगी पगरी पिय की बसि
भीतर आपने सीस संवारी ।
एते में आंगन ते उठि कै तहँ
आइ गये मतिराम विहारी ।
देखि उतारनि लागि तिया पिय
सौंहनि सौं बहुरो न उतारी ।
नैन नचाइ लजाइ रही
मुसुकाइ लला उर लाइ पियारी ।

अर्थात् प्रेम से उसने प्रियतम की पगड़ी उतार के अपने सिर पर पहन ली। इतने में स्वामी के आजाने पर वह उसे उतारने लगी। पर उन्होंने जब उतारने नहीं दिया तब वह हंसकर, लजाकर खड़ी रह गई।

[२]

मुगलों का प्रभुत्व नष्ट होने पर भारतवर्ष में राजकीय-सत्ता अव्यवस्थित हो गई और समाज में एक प्रकार की अकर्मण्यता-शिथिलता-सी आ गई। साहित्य में जो आदर्श निश्चित हो चुके थे उन्हीं के अनुसरण और अनुकरण में कवियों ने अपनी शक्ति लगा दी। इस युग के कवियों की रचनाओं में भाव-वैचित्र्य नहीं केवल उक्ति-वैचित्र्य है। उनमें न तो नवीनता है और न मौलिकता। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें कवित्व-कला नहीं है। उनमें कुछ तो ऐसे भी कवि हैं जिनकी रचनायें उच्चकोटि की मानी जाती हैं। अतएव कवित्व-कला के लिए यहां पहले हमें कोई कसौटी निश्चित कर लेनी चाहिए।

सभी देशों के साहित्य में ऐसे रस-सिद्ध कवीश्वर होते हैं जिनके यशः शरीर को जरा और मृत्यु का भय नहीं रहता। परन्तु ऐसे कवि सभी समय उत्पन्न नहीं होते। जब वे जन्म लेते हैं तब देश की समस्त भावनायें मानो उन्हीं में केन्द्रीभूत हो जाती हैं और वे उन भावनाओं को चिरन्तन स्वरूप देते हैं। सच तो यह है कि देश और काल में जन्म लेकर भी ये अपने व्यक्तित्व के कारण देश और काल का अतिक्रमण कर जाते हैं। वाल्मीकि और व्यास के समान कवियों की रचनाओं में तत्कालीन भारतवर्ष की समस्त

भावनायें विद्यमान हैं। परन्तु उन भावनाओं में सत्य का जो चिरन्तन रूप हमें आज प्राप्त हो रहा है वह वाल्मीकि और व्यास की ही अनुभूति की साधना का फल है। वह उनकी सृष्टि है। उसी में उनकी मौलिकता है। जो साहित्य किसी युग-विशेष की प्रतिच्छाया-मात्र है, तत्कालीन भावनाओं की प्रतिध्वनि मात्र है, वह सरस्वती के सदन में सर्वोच्च स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। जो कवि अपने देश और काल में ही लीन हो जाता है उसकी कृति में वह चिर-नवीनता नहीं रहती जिसके कारण कवि की कीर्ति अक्षय बनी रहती है। कवि की कर्तृत्व-शक्ति तभी प्रकट होती है जब वह अपनी साधना और अनुभूति के बल से देश के चिन्ता-स्रोत में सत्य और सौन्दर्य का चिरन्तन रूप देख लेता है, जो चिर-पुरातन होने पर भी चिर-नवीन बना रहता है। हिन्दी-साहित्य में कबीर, तुलसीदास, सूरदास, जायसी आदि जितने कवीश्वर हुए हैं सभी की कृति में तत्कालीन युग की भावना विद्यमान है, परन्तु यही उसका सर्वस्व नहीं है। उनकी कृति में तत्कालीन धार्मिक-भावना का प्रतिबिम्ब-मात्र नहीं है। उसमें अक्षय सौन्दर्य और सत्य की निधि है जिसको उन्होंने अपनी साधना से उपलब्ध किया था। परन्तु ऐसे महाकवि अपने कला-कौशल से ही नहीं, अपनी साधना से भी साहित्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते हैं। किन्तु जो कवि अपने कला-कौशल से ही साहित्य में स्थान प्राप्त करते हैं वे अगण्य या उपेक्षणीय नहीं हैं। यह सच है कि उनके सम्बन्ध में हमारे हृदय में भक्ति और श्रद्धा का उद्रेक नहीं होता। तो भी साहित्य में उनका स्थान निर्दिष्ट है। वे उस स्थान से हटाये नहीं जा सकते। पर कठिनता उन्हीं की कला की परीक्षा करने में है। हिन्दी में सूरदास

और तुलसीदास के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं है। सन्देह है केशवदास और देव या अन्य ऐसे ही कवियों के सम्बन्ध में। उनका विशेषत्व है किसमें, जो अन्य कवियों में नहीं है? नीचे हम कुछ कवियों की रचनायें उद्धृत करते हैं—

किधौं मुख कमल ये कमला की ज्योति होति
किधौं चारु मुखचन्द्र चन्द्रिका चुराई है।
किधौं मृग लोचनि मरीचिका मरीचि कैधौं
रूप की रुचिर रुचि सुचि सों दुराई है।
सौरभ की सोभा की दसन घन दामिनी की
केशव चतुर चित ही की चतुराई है।
ऐरी गोरी भोरी तेरी थोरी थोरी हांसी
मेरी मोहन की मोहनी की गिरा की गुराई है॥

अथवा

करि की चुराई चाल सिंह को चुरायो लङ्क
शशि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन
दसन अनार हांसी बीजरी गम्भीर की।
कहै कवि बेनी बेनी ब्याल की चुराइ लीनी
रती रती शोभा सब रति के शरीर की।
अब तो कन्हैया जू को चितहू चुराइ लीन्हो
चोरटी है गोरटी या छोरटी अहीर की।

अथवा

मेरे नयन अंजन तिहारे अधरन पर
शोभा देखि गुभर बढ़ायो सब सखियां।
मेरे अधरन पै ललाई पीक लाल तैसें
रावरी कपोल गोल चोखी लीक लखियां।

कवि हरिजन मेरे उर गुञ्जामाल तेरे
बिन गुणमाल रेख शेष देखि अँखियां।
देखौं लै मुकुर द्युति कौन की अधिक लाल
मेरी लाल चूनरी तिहारी लाल अँखियां।

अथवा

चूमों कर कंज मंजु अमल अनूप तेरो
रूप के निधान कान्ह मो तन निहारि दे।
कालिदास कहै मेरे पास हरि हेरि हरि
माथे धरि मुकुट लकुट कर डारि दे।
कुंवर कन्हैया मुखचन्द को जुन्हैया चारु
लोचन चकोरन की प्यासन निवारि दे।
मेरे कर मेहंदी लगी है नंदलाल प्यारे
लट उरझी है नकबेसर सँभारि दे।

उपर्युक्त पद्यों में दो में बाह्य-सौन्दर्य का वर्णन किया गया है और दो में प्रेमिकाओं की बातें लिखी गयी हैं। विचारणीय यह है कि किस में कवित्व अधिक है।

जो लोग कविता में विषय की महत्ता को प्रधानता देते हैं उनकी दृष्टि में तो किसी भी पद्य में कवित्व नहीं है। जिसकी कृति से हमारी सहानुभूति जाग्रत न हो अथवा हृदय में किसी गम्भीर भावना की हिलोर न उठे वह, उनकी दृष्टि में, क्षुद्र है। विषय के द्वारा जितनी ही अधिक विशाल सहवेदना तथा जितनी ही अधिक गम्भीर भावना का उद्रेक होगा, कविता ठीक उसी परिणाम में ऊँची या नीची कही जा सकती है। ब्रज-साहित्य में आदर्श सर्वत्र कृष्ण जी हैं। कवि चाहे कृष्ण-भक्तों की पंक्ति में न बैठ सके, पर उपर्युक्त पद्यों में जो कुछ भी कहा गया है, है वह सभी श्रीकृष्ण जी के

ही सम्बन्ध में। कवियों ने प्राकृतिक-प्रेम और प्राकृतिक-सौन्दर्य का ही वर्णन किया है परन्तु लक्ष्य उनका प्राकृतिक पुरुष नहीं था। अतएव यहां केवल एक-मात्र कला की दृष्टि से विचार करना होगा।

साहित्य-शास्त्रों में रस कवित्व की आत्मा है, भाषा और छन्द उसके अवयव हैं और अलङ्कार उसके भूषण। कला का राज्य सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य किसी एक स्थान में एकत्र नहीं है। कवि सर्वत्र उसका अनुभव करता है, बाह्य-जगत् में और अन्तर्जगत् में। उसकी यह अनुभूति भिन्न भिन्न रसों में व्यक्त होती है। बाह्य-जगत् में कभी वह प्रकृति का विराट् रूप देखकर विस्मय-विमुग्ध होता है और कभी उसकी संहारिणी-शक्ति का अनुभव कर उस पर आतंक छा जाता है। कभी वह उसकी मधुरिमा में निमग्न होकर प्रेम का रसास्वादन करता है और कभी उसकी अस्थिरता का अनुभव कर वह सहानुभूति प्रकट करता है। मनुष्य के अन्तर्जगत् में भी वह सौन्दर्य की भिन्न भिन्न अवस्थायें देखता है। मनुष्य केवल शरीर नहीं है और न मन ही है। आत्मा की अभिव्यक्ति में ही उसकी सत्ता की परम सीमा है। पर शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के द्वारा ही उसके यथार्थ रूप का विकास होता है। जिन अवस्थाओं को अतिक्रमण करने से आत्मिक-विकास होता है वे सभी कला के उपकरण हैं। दैनिक-जीवन में मनुष्य का प्रति-क्षण जो उत्थान-पतन होता रहता है वह कला के लिए उपेक्षणीय नहीं है। आशा-निराशा, सुख-दुख, संयोग-वियोग आदि भावों के उत्थान-पतन से कभी शृंगार-रस, कभी करुण-रस और कभी शान्त-रस का प्रादुर्भाव होता

है। आत्मा की शक्ति जब शरीर और मन के द्वारा प्रकट होती है तब वीर-रस और रौद्र-रस की सृष्टि होती है। जब शरीर और मन को अतिक्रमण कर आत्मशक्ति का स्वरूप लक्षित होता है तब शान्त-रस की धारा बहने लगती है। मनुष्यों के हृदय में जितनी दुर्बलता है उसकी असङ्गति दिखाने से हास्य का उद्रेक होता है और उससे सहानुभूति करने पर मृदु-परिहास होता है। इसी प्रकार साहित्य में शृंगार रस, करुण रस, आदि भिन्न भिन्न रसों की अवतारणा होती है। जहां प्रेम के माधुर्य के साथ आत्मा अथवा मन का सौन्दर्य प्रकट नहीं होता वहां शृंगार रस केवल ग्लानिकर होता है। करुण-रस में यदि शोक के द्वारा प्रेम का निर्मलतम रूप उदित नहीं हुआ तो विलाप चीत्कार हो जाता है। वीर-रस में यदि आत्म-विजय का भाव नहीं है तो वह मिथ्याभिमान में ही परिणत हो जाता है। रौद्र-रस में यदि किसी अजेयशक्ति की सूचना नहीं है तो वह आतंक के स्थान में केवल कौतूहल की वृद्धि करता है। यदि वीर-रस के काव्यों में शस्त्रों की प्रतिध्वनि है, युद्ध का उल्लास नहीं है; यदि उनमें आक्रोश है, उत्साह नहीं है; यदि रौद्र-रस में केवल कौतूहल का ही भाव है; यदि शृंगार-रस में प्रेम का लक्ष्य एक मात्र संयोग है; यदि करुण-रस में केवल बाह्य-अवस्था का चित्र है तो कहना चाहिए कि कवि अपने प्रयास में निष्फल हुआ है।

छिति गई दचक लचक गयो छिति धर
बार पर्‌यो कठिन कमठ कररानो है।
सहम सुरेश गयो दहल चहल शेष
औंध को दिनेश वामदेव पररानो है।

भयो छितिपात ऐसो सुनिए अघात मानो
कैंधो प्रलै करिबे कौ ब्रज तररानो है।
जनसो मुरारि भनै राम तान तोरो चाप
चाप चररानो कै अकाश अररानो है।
दौर दण्ड परसै दमक दामिनी सों उठो
कठिन कठोर जोर सोर सहरानो है।
जोरत प्रतंचा चाप टोरत न ताको कोऊ
चारों ओर प्रलै घन घोर घहरानो है।
खण्ड खण्ड डरो देखि परो महिमण्डल में
अवध विहारी सर्ण भान भर रानो है।
झंझा झररानो महानाद नररानो
शंभु चाप चररानो कै अकास अररानो है।

उपर्युक्त पद्यों में कवि ने शम्भुधनु के भंग होने का दृश्य अङ्कित किया है। यदि पाठकों को शम्भुधनु की कठोरता पर विश्वास न हो और भगवान रामचन्द्र के ईश्वरत्व पर सन्देह हो तो इन पद्यों में, शब्दों को योजना में विशेषता होने पर भी, कवि उनके हृदय में अवस्थानुकूल भाव पैदा नहीं कर सकते।

कल न परति कहूं ऊधो इन गैयन को
कबधौं ललन धौरी धूमरी पुकारि हैं।
पूरिहैं श्रवण कब सुधा निज बैननि सों
कब वह छबि हम नैननि निहारि हैं।
बूड़िबो चहत ब्रज राधा दृगधारनते
कब धौं धराधर करन पर धारि हैं।
मारिहैं अघासुर विदारिहैं बका को कब
वैणु को बजाय कुञ्जवन में विहारिहैं।

अथवा

नेह बरसाने तेरे नेह बरसाने देखि
यह बरसाने बर मुरली बजावेंगे।
साजु लाल सारी लाल करैं लालसा री
देखिबे की लालसा री लाल देखे सुख पावेंगे।
तूही उरवसी उरवसी नहिं और तिय कोटि उरवसी
तजि तोसों चित लावेंगे।
सेज बनवारी बनवारी तन आभरन
गोरे तनवारी बनवारी आज आवेंगे।

अथवा

कैसी ही लगन जामें लगन लगाई तुम
प्रेम की पगनि के परेखे हियै कसके।
केतिको छपाय के उपाय उपजाय प्यारे
तुमतें मिलाय के बढ़ाये चोप चसके।
भनत कवीन्द हमें कुंज में बुलाय कर
बसे कित जाय दुख देकर अवसके।
पगनि में छाले परे नांघिबे को नाले परे
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।

उपर्युक्त पद्यों में कवि पाठकों की सहानुभूति नहीं पासका है।

कवित्व-कला की उत्तमता की जांच करने के लिए पहली कसौटी यह है कि कवि स्वयं अपने विषय में तल्लीन हुआ है या नहीं। विषय चाहे प्रेम हो या शान्ति, यदि कवि स्वयं भावों के सागर में निमग्न होगया है तो उसमें एक विशेषता प्रकट होगी। वह कविता के लिए कृत्रिम साधनों का प्रयोग नहीं करेगा। हिन्दी में ठाकुर, घनानन्द, आलम

ऐसे कवि हैं जिन्हों ने प्रेम का ही एक मात्र वर्णन किया है। उन्हें यथेष्ट सफलता हुई है। उन्होंने उन्हीं विषयों का निर्वाचन किया है जिन से उनको हार्दिक सहानुभूति थी—

पर कारज देह को धारे फिरौ
पर जन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ
सबही विधि सज्जनता सरसौ।
घनआनंद जीवन दायक हौ
कछु मेरियो पीर हिये परसौ।
कबहूं वा बिसासी सुजान के आँगन
मो अंसुवान को लै बरसौ॥
पहले अपनाय सुजान सनेह सों
क्यों फिर नेह को तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार मझार
दई गहि बांह न बोरियै जू।
घन आनँद आपने चातक को
गुन बांधि कै मोह न छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस
बिसास मैं क्यों विष घोरियै जू॥
हम सौं हित कै कित कौ नित ही
चित बीच बियोगहि पोइ चलै।
सु अखैबट बीज लौं फैलि पर्‌यो
बनमाली कहाँ धौ समोइ चले।
घन आनँद छांह बितान तन्यो—
हमैं ताप के आतप खोइ चले।
कबहूं तेहि मूल तौ बैठिए आइ
सुजान जो बीजहिं बोइ चले॥

अति सूधो सनेह को मारग है
जहां नेको सयानप बाँक नहीं।
तहां साँचे चलैं तजि आपन पौ
झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं।
घन आनँद प्यारे सुजान सुनो
इत एक तैं दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला
मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

जो कवि सच्चे हृदय से किसी विषय को चुनता है उसको यह मालूम रहता है वह कौन सी चीज़ है जिसके कारण वह उक्त विषय की ओर आकृष्ट हुआ। जो रस कविता की आत्मा कहा गया है वह कवि के अन्तस्तल में ही निवास करता है। उसे वह कहीं से मांग-जांच कर नहीं लाता।

ठाकुर कवि में प्रेम की धारा बह रही थी, परन्तु वे एक-मात्र प्रेम के ही उपासक नहीं थे। उन्होंने अपना आत्म-परिचय देते हुए कहा है—

सुकवि सिपाही हम उन रजपूतन के
दान युद्ध वीरता में नेकहू न मुरके।
जस के करैया हैं मही के महिपालन के
हिये के विशुद्ध हैं सनेही सांचे उर के।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के
जालिम दमाद हैं अदेनियाँ ससुर के।
चोजन के चोजी महा मौजिन के महाराज
हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के।

निम्नलिखित पद्य में ठाकुर ने पुरुषत्व की जो पहचान बतलाई है वह ठीक उनके युग के अनुकूल है—

बैर प्रीति करिबे की मन में न राखै संक
राजा राव देखि कै न छाती धकधाकरी।
अपनी उमंग की निबाहिबे की चाह जिन्हें
एक सों दिखात तिन्हें बाघ और बाकरी।
ठाकुर कहत मैं विचार कै विचार देखो
यहै मरदानन की टेक बात आकरी।
गही जौन गही जौन छोड़ी तौन छोड़ दई
करी तौन करी बात ना करी सो ना करी।

ठाकुर कवि ने कृष्ण का जो रूप अपने हृदय में कल्पित कर रक्खा था वह तत्कालीन सभी कवियों का आदर्श था।

ग्वारन को यार है सिंगार सुख सोभन को
सांचो सरदार तीन लोक रजधानी को।
गाइन के संग देख आपनो बखत लेख
आनंद विशेष रूप अकह कहानी को।
ठाकुर कहत सांचो प्रेम को प्रसंगवारो
जा लख अनंग रंग दंग दधि-दानी को
पुण्य नन्द जू को अनुराग ब्रजवासिन को
भाग यसुमति को सुहाग राधा रानी को।

ठाकुर जी की प्रेम-सूक्तियों में लौकिक भावों की ही प्रधानता है—

वा निरमोहिन रूप की रासि जौ
ऊपर कै उर आनत ह्वै है।
बारहु बार बिलोकि घरी घरी
सूरति तो पहिचानति ह्वै है।

ठाकुर या मन की परतीत है
जोपै सनेह न मानत ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिये
इतनों तो बिसेसहू जानति ह्वै है॥
वह कञ्ज सों कोमल अङ्ग गुपाल को
सोऊ सबै पुनि जानती हौ।
बलि नेक रुखाई धरे कुम्हलात
इतौऊ नहीं पहिचानती हौ।
कवि ठाकुर या कर जोरि कह्यौ
इतने पै बने नहिं मानती हौं।
दृगबान या भौंह कमान कहौ
अब कान लौं कौन पै तानती हौ॥
लगी अन्तर में करै बाहिर को
बिन जाहिर कोऊ न मानतु है।
दुख औ सुख हानि औ लाभ सबै
घर की कोउ बाहर भानतु है।
कवि ठाकुर आपनी चातुरी सों
सबही सब भांति बखानतु है।
पर बीर मिलै बिछुरै की बिथा
मिलि कै बिछुरै सोई जानतु है॥
ये जे कहैं ते भले कहिबौ करैं
मान सही सौ सबै सहि लीजै।
ते बकि आपुहि ते चुप होयंगी
काहे को काहुवै उत्तर दीजै।
ठाकुर मेरे मते की यहै धमि
मान कै जोबन रूप पतीजै।

या जग मैं जनमैं को जिये को
यहै फल है हरि सों हित कीजै ॥
एक ही सों चित चाहिये और लौं
बीच दगा को परै नहिं टाँको।
मानिक सों चित बेंचि कै जू अब
फेरि कहाँ परखावनो ताको।
ठाकुर काम नहीं सबको इक
लाखन में परबीन है जाको।
प्रीति कहा करिबे में लगै
करिकै इक ओर निबाहनो वाको।

अन्त में उन्होंने कहा है—

यह प्रेम-कथा कहिए किहि सों
सौ कहे सों कहा कोऊ मानत है।
पर ऊपरी धीर बँधायो चहैं
तन रोग न वा पहिचानत है।
कहि ठाकुर जाहि लगी कसकै सु तो
को कसकै उर आनत है।
बिन आपन पाँय बिवाय गये
कोऊ पीर पराई न जानत है।

नेवाज की उक्तियाँ भी शृङ्गार-रस से पूर्ण हैं—

देखि हमैं सब आपुस में
जो कछू मन भावे सोई कहती हैं।
ए घरहाई लोगाई सबै
निसि द्योस नेवाज हमैं दहती हैं।
बातैं चबाव भरी सुनि कै
रिसि आवत पै चुप ह्वै रहती हैं।

कान्ह पियारे तिहारे लिये
सिगरे ब्रज को हँसिबो सहती हैं ॥
आगै तो कीन्ही लगा लगी लोयन
कैसे छिपे अजहूं जो छिपावति ।
तू अनुराग को सोध कियो
ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति ।
कौन सकोच रह्यो है नेवाज
जो तू तरसै उनहूं तरसावति ।
बावरी जो पै कलङ्क लग्यो तौ
निसङ्क ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति ।

तोष की एक उक्ति सुनिए—

श्री हरि की छबि देखिबे को
अंखियां प्रति रोमन मैं करि देतो ।
बैनन के सुनिवे कहं श्रौन जितै
तित सो करतो करि हेतो ।
मो ढिग छोड़ि न काम कछू
कहि तोष यहै लिखितो विधि एतो ।
तौ करतार इती करनी करिकै
कलि में कलकीरति लेतो ।

आलम और शेख की प्रेम-कथा हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध है । कहा जाता है कि शेख की एक कवित्व-मयी उक्ति पर रीझ कर आलम ने उससे विवाह कर लिया । आलम की दो प्रसिद्ध उक्तियाँ सुनिए—

कैधों मोर सोर तजि गये री अनत भाजि
कैधों उत दादुर न बोलत हैं ये दई ।
कैधों पिक चातक बधिक काहू मारि डारे
कैधों बक पांति उत अन्तगति ह्वै गई ।

आलम कहत आली अजहूं न आये कन्त
कैधों उत रीति विपरीत विधि ने ठई।
मदन महीप की दुहाई फेरिबे ते रही
जूझि गये मेघ कैधों बीजुरी सती भई।

और भी

जा थल कीन्हे बिहार अनेकन
ता थल कांकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन
ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं।
आलम जौन से कुञ्जन में करी
केलि तहां अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा रहते
तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।

अब तीन सूक्तियां और देकर हम ब्रज-साहित्य के दूसरे स्वरूप पर विचार करेंगे—

जो कछु वेद पुरान कही सुनि
लीनी सबै जुग कान पसारे।
लोकहु में यह ख्यात प्रथा
छिन में खल कोटि अनेकन तारे।
वृन्द कहै गहि मौन रहै किमि
हौं हठ कै बहु बार पुकारे।
बाहर ही के नहीं सुनो हे हरि
भीतर हू ते अहौ तुम कारे॥
नैनन को तरसैये कहाँ लौं
कहाँ लौं हिये बिरहागि मैं तैये।

एक वरी न कहूं कल पैये कहां लगि
प्रानन को कलपैये ।
आवै यही अब जी में विचार
सखी चलु सौतिहुं के घर जैये ।
मान घटे ते कहा घटिहै जु पै
प्रान पियारे को देखन पैये ॥
सूखति जाति सुनी जब सों कछु
खात न पीवति कैसे धौं रैहै ।
जाकी है ऐसी दसा अबहीं
रघुनाथ सो औधि अधार क्यों पैहै ।
ताते न कीजिए गौन बलाइ ल्यों
गौन करे यह सीस बिसैहै ।
जानति हौ दृग ओट भये तिय
प्रान उसासहि के संग जैहै ॥

उपर्युक्त सभी पद्यों में जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह है कि कवियों ने अपने हृदय के भाव को अपनी धारणा, अपने विश्वास और अनुभूति के ही अनुसार कहा। विषय चाहे महत् हो, पर जो कुछ उन्होंने लिखा है उमंग में ही आकर लिखा है। उमंग की अवस्था में वह अपनी रचना-कुशलता को भूल जाता है। जो शब्द पहले आते हैं उन्हीं में वह अपने हृदय को बात लिख जाता है। परंतु जब वह रचना के उद्देश से किसी भाव का वर्णन करना चाहता है तब वह कला के द्वारा, शब्दों की योजना, अलङ्कारों के सन्निवेश आदि से, भाव के अनुकूल अवस्था चित्रित करना चाहता है। ऊपर जिन कवियों के पद्य दिये गये हैं उनकी सभी रचनाओं में कला का यह अकृत्रिम विन्यास नहीं है।

मनुष्यों में भक्ति की भावना ऐसी है जहां कृत्रिमता के लिए अवकाश नहीं रहता। परंतु जब कवि भगवद्प्रेम से गद्गद होकर उनका सामीप्य चाहता है या व्यथा से पीड़ित होकर उनका आश्रय चाहता है तभी वह सब कुछ भूल कर एक-मात्र अपने भाव को ही स्पष्ट करने में लगता है। किन्तु वही भक्ति उसकी रचना का विषय हो जाने पर हृदय में न तो शान्ति को धारा बहा सकती है और न करुण-रस का संचार कर सकती है। उससे केवल कौतूहल की वृद्धि होती है। ग्वाल कवि का निम्नलिखित पद्य इसका अच्छा उदाहरण है—

गीधे गीध तारि कै सुतारि उतारि कै जू
धारि कै हिये में निज बात जटि जायगी।
तारि कै अवधि करी अवधि सुतारिबे की
विपति विदारिबे की फांस कटि जायगी।
ग्वाल कवि सहज न तारिबो हमारो गिनौ
कठिन परैगी पार पांति पटि जायगी।
यातें जो न तारिहौ तुम्हारी सौंह रघुनाथ
अधम उधारिबे की साख घटि जायगी।

ऐसी अवस्था में कवित्व-कला की कसौटी उक्तिके वैचित्र्य और नवीनता पर निर्भर रहती है। जिस पद्य में उक्ति की जितनी ही अधिक विचित्रता और नवीनता रहती है वह उतना ही अधिक चित्ताकर्षक होगा। उक्ति-वैचित्र्य के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

चित चाह अबूझ कहै कितने
छबि छीनी गयन्दन की टटकी।
कवि केते कहैं निज बुद्धि उदै
यह लीनी मरालन की मटकी।

द्विजदेवजू ऐसे कुतरकन में
सब की मति यों ही फिरै भटकी।
वह मन्द चले किन भोरी भटू
पग लाखन की अंखियां अटकी।

अथवा

पाटल नयन कोकनद के से दल दोऊ
बलभद्र यासर उनीदी लखी बाल मैं।
शोभा के सरोवर में बाड़व की आभा कैधों
देव धुनि भारती मिली है पुन्य काल मैं।
काम कैवरत कैधों नासिका उडुप बैठ्यो
खेलत सिकार तरुनी के मुख ताल मैं।
लोचन सिता सित मैं लोहित लकीर मानो
बांधे जुग मीन लाल रेसम के जाल मैं।

अथवा

लूटिबे के नाते पाप पट्टनै तौ लूटियत
तोरिवे को मोह तरु तोरि डारियतु है।
घालिबे के नाते गर्व घालियत देवन के
जारिबे ने नाते अघ ओघ जारियतु है।
बांधिबे के नाते ताल बांधियत केशोदास
मारिबे के नाते तौ दरिद्र मारियतु है।
राजा रामचन्द्र जू के नाम जग जीतियतु
हारिबे के नाते आन जन्म हारियतु है।

अथवा

कंज सकोच गड़े रहे कीच में
मीनन बोरि दयो दह नीरन।
दास कहै मृग हू को उदास कै
वास दियो है अरण्य गंभीरन।

आनुस में उपमा उपमेय है
नैन ये निन्दित हैं कवि धीरन।
खंजन हू को उड़ाय दियो
हलुके करि डारे अनङ्ग के तीरन।

इसी उक्ति-वैचित्र्य में अलंकार का चमत्कार भी दृग्गोचर होता है। अलंकार दो प्रकार के माने गये हैं, शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकारों में अनुप्रास मुख्य है और अर्थालंकारों में उपमा। सच पूछिए तो इन्हीं दो से अन्य सभी अलंकारों का उद्भव हुआ है और उक्ति में विलक्षणता लाने के ही लिए उनकी सृष्टि हुई है। उपमा के द्वारा भाव स्पष्ट ही नहीं होता है, वह रमणीय भी हो जाता है। अनुप्रास सिर्फ भाषा-सौंदर्य के लिए प्रयुक्त होता है, परंतु उससे भी कविता के मूल गत ध्वनि-मात्र द्वारा स्पष्ट होते हैं। कुछ लोग अनुप्रास को शब्दाडम्बर-मात्र समझते हैं। यह उनकी भूल है। यह सच है कि कितने ही कवियों ने केवल आडम्बर के लिए ही अनुप्रास या यमक का प्रयोग किया है। परंतु इसी में उसकी सार्थकता नहीं है। जैसे रूप के सादृश्य से उपमा की सृष्टि होती है वैसे ही शब्दों के सादृश्य से अनुप्रास की रचना होती है। शब्दों में एक प्रकार का पारस्परिक आकर्षण रहता है। पत्ते पत्ते मिलकर मर्मर-ध्वनि उत्पन्न करते हैं, तरंगों के पारस्परिक आघात से कल कल नाद उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शब्दों के मिलने से काव्य में एक अपूर्व सङ्गीत-ध्वनि उत्पन्न होती है। अनुप्रास का एक उदाहरण लीजिए—'दामिनी दमक सुर चाप की चमक श्याम घटा की घमक अति घोर घन घोर तें।' अनुप्रास की इस छटा में वर्षा की

लीला का सादृश्य अवश्य है। कविता के लिए यह आव-श्यक है कि शब्दों की ध्वनि-मात्र से कविता का मूल गत अर्थ स्पष्ट हो जाय। चाहे उपमा हो या अनुप्रास, उनकी सार्थकता तभी है जब वे भाव का अनुसरण करते है। भावों का अनुसरण न करने से अलंकारों की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। कितने ही स्थलों में इसके अभाव को कवि अपने रचना-चातुर्य से छिपाने की चेष्टा करता है। तभी वह पाठकों को मुग्ध करने को विचित्र उपमाओं और अनुप्रासों का आश्रय ग्रहण करता है। शब्दालंकार का एक उदाहरण लीजिए—

छिगुनी लौं छरा छोरि डारे छमकन वारे
छर हरे छरा छाये छतियां की फैल पै।
छात ते उतरि छिति छापै लौं छपाये पांय
छिन छिन छीन लंक लचकत गैल पै।
ग्वाल कवि छलकै छहर छल छन्दन लौं
छाजत छवैया नेह वंशी के बजैल पै।
छपा में छपा कर छपे पै छपि छाये परी
छरीले छवीली छकी जात छली छैल पै।

अथवा

सब के सब केसब केसब के हित
के गज सोहते शोभा अपार हैं।
जब सैलन सैलन सैलन ही फिरै
सैलन सैलहिं सीस प्रहार हैं।
गिरिधारन धारन सों पद के जल
धारन लै बसुधारन कार हैं।
अरि बारन बारन बारन पै
सुर बारन बारन बारन वार हैं।

उपर्युक्त पद्यों में शब्दों की योजना से किसी भी भाव का रूप स्पष्ट नहीं होता। अब पदमाकर का एक पद्य लीजिए—

ये ब्रजचन्द चलो किन वा ब्रज
लूक बसन्त की ऊकन लागी।
त्यों पदमाकर पेखो पलासन
पावक सी मनो फूकन लागी।
वै ब्रजनारी बिचारी बधू
बन बावरी लौं हिये हूकन लागी।
कारी कुरूप कसाइन पै सु
कुहू कुहू कैलिया कूकन लागी।

भाषा और भाव का उचित सामञ्जस्य होने पर अनुप्रास अथवा यमक इतना स्वाभाविक हो जाता है कि उस पर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती।

बातनि क्यों समुझावति हौ मोहि
मैं तुमरो गुन जानति राधे।
प्रीति नई गिरिधारन सों भई
कुंज में रीति के कारन साधे।
घूंघट नैन दुरावन चाहति
दौरति सो दुरि ओट ह्वै आधे।
नेह न गोयो रहै सखि लाज
सों कैसे रहे जल जाल के बांधे।

संसार में हम जो कुछ देखते हैं उसकी अप्रत्यक्ष मूर्ति हमारे हृदय में अङ्कित हो जाती है। आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि सभी वस्तुएं हमारी अनुभूति से मिल जाती हैं और उन्हीं की सहायता से अनिर्वचनीय भाव वचनीय किये

जा सकते हैं। स्त्री के मुख की शोभा देख लेने के बाद जब कोई कहता है कि मुख चन्द्रमा के सदृश है तब मानो वह सौन्दर्य को मूर्तिमान् बनाने को चेष्टा करता है। निराकार भाव को आकार प्रदान करना ही उपमा का काम है। उपमा के द्वारा उपमान और उपमेय में जो सादृश्य देखा जाता है उसमें जितनी ही अधिक सूक्ष्मता रहेगी उतनी ही अधिक विलक्षणता प्रकट होगी। स्थूल रूप से सादृश्य दिखलाने पर हृदय में किसी भी भाव का उद्रेक नहीं होगा।

एक कवि ने नेत्रों के सम्बंध में कहा है—

मृन कैसे मीन कैसे खञ्जन प्रवीन कैसे
अञ्जन सरित सित असित जलद से।
चर से चकोर से कि चोखे खांड़े कोर से
कि मदन मरोर से कि माते राते रद से।
नहीं कवि ऐना से कि और नैन बैना से
कि सियरे सलौना से कि आछे मृग मद से।
पय से पयोधि से कि और सौंधे सौध से
कि कारे भौंर केसे अनियारे कोक नद से।

इस के साथ सूरदास जी की निम्नलिखित उक्ति की तुलना कीजिए। उपमाओं या सभी अलङ्कारों की सार्थकता किस प्रकार गूढ़ भाव का व्यक्त कर देने में है, यह उससे स्पष्ट हो जायगा।

उपमा नैनन एक रही।
कविजन कहत कहत सब थाके सधि कर नहीं कही।
नहिं चकोर विधु मुख बिन जीवन भंवरहु नहीं लखात।
हरि मुख कमल कोश तें बिछुरे अनतै कत ठहरात।

ऊधो अधिक व्याध ह्वै आये मृग सम क्यों न परात।
भागि जाहिं बन सघन स्याम मैं जहां न कोऊ घात।
खंजन मनरंजन न होंहि ये कबहुं नहीं अकुलात।
पंख पसारि न होहिं चपल गति हरि समीप उड़िजात।
कमल न होहिं कौन विधि कहिए झूठे ही तनु आड़त।
सूर दास मीनता कछू इक जल भरि कबहुं न छांड़त।

सौन्दर्य में कवियों ने भिन्न भिन्न तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। तुलसीदास और सूरदास के समान भक्त कवियों का वर्णन तो सर्वथा अलौकिक है। जिन्होंने मानवीय सौन्दर्य का वर्णन किया है उनमें तीन भेद स्पष्ट हैं। एक ने केवल शरीरज सौन्दर्य का वर्णन किया है जिसका एक-मात्र कारण उद्दाम वासना है। यह सच है कि उस वासना में गोपियों की चित्त-वृत्ति कृष्ण की ही ओर लगी हुई थी। परन्तु उनका लक्ष्य संभोग ही था। जिन कवियों ने हृद्-गम्य सौन्दर्य का वर्णन किया है उनकी रचनाओं में तृप्ति का भाव विद्यमान है और जिन्होंने ज्ञान के द्वारा उस परम-सौन्दर्य-निधान को जान लिया था उनके उद्गारों में मानसिक विकारों की प्रतिच्छाया कम दिखाई देती है। जिसे हम आजकल अश्लीलता कहते हैं उस दोष से एक-मात्र तुलसीदास जी ही दूषित नहीं है। अन्य सभी कवियों की रचनाओं में ऐसे पद्य हैं जो आधुनिक समाज के लिए ग्लानिकर हैं। परन्तु इसका कारण एक-मात्र युग-धर्म का प्रभाव है। कालिदास से लेकर भक्त-कवि जयदेव तक की रचनाओं में ऐसे ही पद्य हैं। इसका कारण यह है—प्रेम की अत्यन्त उच्च अवस्था में त्याग की वृत्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि उन्हें लोक-मर्यादा का ध्यान ही नहीं रहता। जिनके हृदय में

सांसारिक भावना है नहीं उनकी दृष्टि में उन्हें भगवान् की रस-क्रीड़ा में विकार के स्थान में अश्रु-प्रवाह होता था। उसी के कारण अन्य कवियों ने भी रति-वर्णन को विशेष उत्साह से किया है। परन्तु कविता के सम्बन्ध में उनकी उच्च धारणा अवश्य थी। वे आदर्श से च्युत नहीं हुए। उन्होंने आदर्श को दूसरी हो रीति से ग्रहण कर लिया। उन्होंने उसको अनुभूति का विषय न मान कर कला का विषय मान लिया है। जब एक-मात्र कला के लिए कला की सृष्टि होती है तब उसमें सर्व-साधारण की भावना की अपेक्षा की जाती है। वह केवल रसिकों के लिए है जिन्हें कला में सु और कु की विवेचना करना नहीं है; एक-मात्र रस का आस्वादन करना है। जैसे संगीत के लिए अर्थ की आवश्यकता नहीं वैसे ही रस-प्रवाह में सदाचार की जरूरत ही नहीं है। इस युग के कवियों में देव जी श्रेष्ठ हैं। उनकी रचनाओं में प्रेम है, भक्ति है, उल्लास है, और इसके साथ ही शृङ्गार-रस के प्रेमियों, रसिकों, के मनोविनोद के लिए यथेष्ट सामग्री है। भिखारी दास और पद्माकर की भी विशेष प्रसिद्धि है। पद्माकर की रचनायें तो सबसे अधिक लोक-प्रिय हैं। पर हिन्दी में सूक्तियों का अभाव किसी भी काल में नहीं रहा है।

लोभ झकझोरन ते, मदन हिलोरन ते,
भारी भ्रम भौंरन ते कैसे थिर रहती।
दुख द्रुम डारन ते; पातक पहारन ते,
कुमति कगारन ते कैसे कै निबहती॥
जरा जन्तु ओकन के; चिन्ता जल ढोकन के,
रोग सोक मोकन के झोंक कैसे सहती।
होते जो न आजु तेरे चरन करनधार,
मैया यह नैया मेरी कैसे पार लहती॥

झाँवरे लगत सुर जासु की झलक झाँकि,
सुषमा सराहों कहा सांवरे सुजान की।
झूलिबे को चाह करि चढ़े झूलने पै दूऊ,
कोऊ नाहिं सकै कहि उपमा झुलान की॥
कटि की लचनि मचकनि चारु जाँघन की,
अचकनि गहनि बो झूम झूमकानि की।
झूलत समय की सुधि भूलति न हूलति री,
उझकनि झुकनि झिकोरनि भुजान की॥
वारि डारौ शरद इन्दु मुखछवि गुविन्द पर,
दिनेशहूँ को वारि डारौं नखन छटान पर।
कोटि काम वारि डारौं अंग अंग श्याम लखि
वारि डारौं अलि अलि कुञ्चित लटान पर॥
नैनन की कोरन पै कंजहूँ को वारि डारौं
वारि डारौं हंसहूँ को चाल लटकान पर।
देख सखी आज ब्रजराज छबि कहा कहों
कामधनु वारि डारौं भृकुटि मटान पर॥
सुनो हो विटप हम पुहुप तिहारे अहैं
राखिहौ हमैं तो शोभा रावरी बढ़ावैंगे।
तजिहौ हरषि कै तो बिलग न मानैं कछू
जहाँ जहाँ जैहैं तहाँ दूनों यश गावैंगे।
सुरन चढ़ैंगे नर सिरनि चढ़ैंगे नित
सुकवि "अनीस" हाथ हाथन बिकावैंगे।
देश में रहैंगे, परदेश में रहैंगे,
काहू भेस में रहैंगे तऊ रावरे कहावैंगे॥
कूक उठीं कोकिलानि गूंजि उठीं भौंर भीर,
डोलि उठे सौरभ समीर सरसावने।

फूलि उठीं लतिका लवंगन कि लोनी लोनी,
झूलि उठीं डालियाँ कदम्ब सुखपावने ॥
चहकि चकोर उठे कीर करि शोर उठे,
टेरि उठीं सारिका विनोद उपजावने।
चटकि गुलाब उठे लटकि सरोज पुंज,
खटकि मराल ऋतुराज सुनि आवने ॥

रूसन में दूसन में लालमन मूसन में,
मैनकी मसूसन में धीर कैसे रहै री।
कोकिल की कूकन में पौन मन्द झूकन में,
औसर की चूकन में फेरि पछितैहै री ॥
बेलिन नवेलिन में संग की सहेलिन में,
खेलन में केलन में मनसा समैहैं री।
वृन्दाबन कुञ्जन में फूलन के पुंजन में,
भौंरन की गुंजन में भूलि मान जैहै री ॥

टेढ़ी टेढ़ो भौंहैं चढ़ी हैं चितवनि टेढ़ी
टेढ़ी ही तिलकभाल केसर विसाल की।
टेढ़ी किरीट टेढ़ी कलँगी पखान खोंसे,
टेढ़े ही सुहात चारु कुण्डल बिशाल की ॥
टेढ़ी ही ग्रीव करि मुरलीधर अधरन में,
टेढ़ी ही शाखा ठाढ़े तरवर तमाल की।
टेढ़ी परताप सब लागत कुलकान टेढ़ी,
मेरे मन बसी टेढ़ी मूरति गोपाल की ॥

कारी कारी रैनि जैसी कारी कारी बादरी में,
कारी कारी सारी कारी कारी कचबेली त्यों।
कारे कारे काजर सों कारे करि डारे नैन,
कारी कारी कंचुकी उरोजन पै मेली त्यों ॥

कहै नन्दराम कारो कारो अंगराग अंग,
कारी कारी बाल या निकारी पै पछेली त्यों।
कारी कारी कुंजवै तमालतरु कारे कारे,
कारे कारे कान्हर पै जात है अकेली त्यों॥
पीले पीले गोलन कपोलन विराजि रहे,
पीले पीले कुण्डल दुचन्द द्युति दरसै।
पीले पीले हार उर गेंदा गुलदाउदी के,
पीले पीले कुसुम सुकेश छबि सरसै॥
पीले पीले केसरि के अंगराग अंगन में,
पीले पीले पौन ते परागपुंज परसै।
नन्दराम पीले पीले किंसुक झरत जात,
मानो प्यारी अंगन ते पीलो रंग बरसै॥

उपर्युक्त सभी सूक्तियों में कल्पना है, भाव है और सौन्दर्य है। पर कहने की आवश्यता नहीं कि इन तीनों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। इसीसे उनमें नवीनता और मौलिकता का अभाव है। उच्चकोटि और निम्नकोटि की कला में यही भेद है। इस युग में उच्चकोटि की कवित्व कला देव-जी की रचनाओं में अवश्य विद्यमान है।

देव जी सभा--कवि थे। अन्य कवियों की तरह उन्होंने भी अपने आश्रयदाता की प्रशंसा की है और उनकी भी रचना शृङ्गार--रस से पूर्ण है। निम्नलिखित पद्य में उन्होंने भोगीलाल की गुणज्ञता की प्रशंसा की है—

भूलि गयो भोज बलि विक्रम बिसरि गये
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं।
राजा राउ राने उमाराउ उनमाने उन
माने निज गुन के गरब गबीदे हैं।

सुबस बजाज जाके सौदागर सुकवि
चलेई आवैं दसहूं दिसान के इनीदे हैं।
भोगीलाल भूप लाख पाखर लिवैया जिन
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।

देव जी की विशेषता उनके शृङ्गार-रस के विश्लेषण में है। उन्होंने नायक--नायिका के रूप में श्रीकृष्ण और राधा जी का विशेष लक्ष्य रक्खा है—

माया देवी नायिका नायक पूरुष आय।
सबै दम्पतिन में प्रकट देव करैं तेहि जाय।

इसी से वे यह कह सके—

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमड़ि आयो
तामें तीनों लोक बूड़ि गये एक संग मैं।
कारे कारे कागद लिखे जो कारे आखर
सुन्यारे करि बांचै कौन जांचै चित भंग मैं।
आंखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि अरु
जंबू रस बंद जमुना जल तरंग मैं।
मोही मन मेरो मेरो काम को न रह्यो देव
स्याम रंग ह्वै कर समानो स्याम रंग मैं।

प्रेम की इस धारा में सभी वासनायें बह गईं—

देव घनश्याम रस बरस्यो अखंड धार
पूरन अपार प्रेम-पूरन सहि पर्यो।
विषै-बन्धु बूड़े मद मोह-सुत दबे देखि
अहंकार भीत मरि मुरझि महि पर्यो।
आशा त्रिसना सी बहू बेटी लै निकसि भाजी
माया मेहरी पै येहरी पै न रहि पर्यो।

गयो नहिं हेरो लयो बन में बसेरो नेह
नदी के किनारे मन-मन्दिर ढहि पर्‌यो।

इस प्रेम के प्रवाह में लोक-मर्यादा की भित्ति भी ढह जाती है।

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक नरलोक बरलोकन मैं
लीन्हो मैं असोक लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाहु मन जाहु देव गुरुजन जाहु
जीव क्यों न जाहु टेक टरति न टारी हौं।
वृन्दाबन वारी बनबारी के मुकुट पर
पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं।

अर्थात् मुझे कोई कुलटा कहे या कुलीन, अकुलीन रंकिनी, कलंकिनी, कुनारी कुछ भी कहे मुझे इसकी परवाह नहीं है। पर-लोक और नर-लोक तो क्या मैंने श्रेष्ठ लोगों से उस लोक को लिया है जो शोक रहित है। इसीसे मैं सब लोगों से अलग हूँ। शरीर भले ही चले जाय, मन भी जाय, पर मेरा प्रण नहीं टूटेगा। मैं तो वृन्दावन के पीताम्बरधारी बनवारी के मुकुट पर न्योछावर हूँ।

प्रेमोन्माद की इस अवस्था का चित्र देव ने निम्नलिखित पद्य में अङ्कित किया है—

जब तें कुंवर कान्ह रावरी कला निधान
कान परी वाके कहूं सुजस कहानी सी।
तब ही ते देव देखी देवता सी हंसति सी
रीझति सी खीझति सी रूठति रिसानीं सी।

छोही सी छलीली छीन लीनी सी छकी छिनसी
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी।
बाँधी सी बंधी सी विप बूड़ति विमोहित सी
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी।

कवित्व-कला में कवि की जो सृजन-शक्ति प्रकट होती है वह भिन्न भिन्न भावों के विन्यास में ही प्रत्यक्ष होतो है।

देव की एक भक्तमयी उक्ति देखिए—

देव नभ मंदिर में बैठार्‌यो पुहुमि पीठ
सिगरे सलिल अन्हगये उहमत हौं।
सकल महीतल के मूल फूल फूल दल
सहित सुगन्धन चढ़ावन चहत हौं।
अगिनि अनन्त धूप दीपक अखण्ड ज्योति
जल थल अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर कामना न मेरे और
आठो जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं।

उन्हीं की एक दूसरी उक्ति सुनिए—

उजल अखंड खंड सातयें महल महा
मंडल सँवारो चंद मंडल की चोट ही।
भीतर ही लालनि के जालनि विसाल जोति
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोट ही।
वरनति बानी चौर ढारति भवानी कर
जोरे रमारानी ठाढ़ी रमन की ओट ही।
देव दिगपालिनि की देवी सुखदायिनि
ते राधा ठकुराइन के पायन पलोट ही।

और भी—

सूनौ के परनी पदु ऊनौ के अनंत मदु
दूनौ के नदीस नदु इंदरा फुरै परी।
महिमा मुनीसन की संपति दिगीसन की
ईसन की सिद्धि ब्रज वीथी विथुरै परी।
भादौं की अंधेरी अधराति मथुरा के पथ
आई मनोरथ देव देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म-रासि
जसुदा के कोरे एक बारक कुरै परी॥

देव के ऋतु- वर्णन में निम्नलिखित पद्य में नवीनता अवश्य है—

डार द्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के
सुमन झंगूला सौहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावैं केरी कीर बतरावैं देव
कोकिल हलावैं हुलसावैं कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन
कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि
प्रात हिये लावत गुलाब चटकारी दै।

अर्थात् वसन्त काल में प्रकृति का जो वैभव देखा जाता है उसमें प्राधान्य मदन का ही है। वसन्त का जन्म होने पर पवन, कोकिल, लता, गुलाब सभी उसकी सेवा में तत्पर हैं। यही विलक्षणता उनके निम्नलिखित पद्य में है। नायिका वसन्त को पावस बना रही है—

नील पट तन पर घन से घुमाय राखौं
दन्तन की चमक छटा सी विचरति हौं।

हीरन की किरन लगाइ राखौं जुगनू सी
कोकिला पपीहा पिक बानी सों भरति हौं।
कीच अंसुवान के मचाय कवि देव कहैं
बालम विदेश को पधारिबो हरति हौं।
इन्द्र कैसो धनु साज बेसर कसत आज
रहुरे वसन्त तोहिं पावस करति हौं।

विलक्षण कल्पना से विस्मय का उद्रेक है। पर निम्न लिखित पद्य में माता के स्वाभाविक उद्गार अंकित किए गए हैं—

बारे बड़े उमड़े सब जैबे को
हौं न तुम्हें पठवौं बलिहारी।
मेरे तो जीवन देव यही धनु
या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी।
जानै न रीति अथाइन की
नित गाइन मैं बन भूमि निहारी।
याहि कोऊ पहिचानै कहा
कछु जानै कहा मेरो कुंज बिहारी।

अर्थात् छोटे-बड़े सब जाने के लिए उत्सुक हैं। सब जावें। पर मैं तो नहीं भेजूंगी। मेरा तो यही जीवन-धन है। मैंने तो इसे भीख में पाया है। यह राज-सभा का ढंग क्या जाने, इसने तो गायों को चराते हुए जंगल ही देखा है। इसे कोई क्या पहचानेगा और यह भी जानता ही क्या है। निम्न लिखित पद्य में पावस की छटा है—

सुनि कै धुनि चातक मोरनि की
चहुं ओरनि कोकिल कूकनि सों।

अनुराग भरे हरि बागन मैं
सखि रागत राग अचूकनि सों।
कवि देव छटा उनईं जु नई
बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराती हरी हहराती लता
झुकि जाती समीर के झूंकनि सों।

चारों ओर चातक और मयूरों की ध्वनि और कोयलों की कूकें सुनकर हरि उद्यान में गा रहे हैं। इधर घटा उमड़ी उधर वन-भूमि बनस्पतियों से भर गई। आनन्द से हरी-हरी लतायें हवा के झोकों से झुक झुक जाती हैं। निम्न लिखित पद्य भी भाषा-सौष्ठव का अच्छा उदाहरण है—

वारौं कोटि इन्दु अरविन्दु रस विन्दु पर
मानै ना मलिंद बिन्दु समकै सुधा सरो।
मलै सलिल मालती कदंब कचनार चंपा
चापे हून चाहै चित चरन टिकासरो।
पदुमिन तू ही पट पदु को परम पदु देव
अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो।
रस रिस रास रोस आसरो सरन विसे
वीसो बिसवास रोकि राख्यो निसि बासरो।

अर्थात् मैं तुझ पर करोड़ों चन्द्र और कमल न्यौछावर करता हूं। तेरे प्रेम-रस की एक बूंद के आगे भौंरा अमृत के सरोवर को भी विन्दु के समान नहीं मानता। चमेली, चन्दन, मालती, कदम्ब, कचनार, चम्पा आदि पर तो वह पैर नहीं रखता। हे पद्मनी, भौंरे का परम आश्रय तू ही है। दूसरे फूल कितने ही खिले हों वे कर ही क्या सकते हैं। रस में, रास में, खीझ में, क्रोध में, तू ही उसका आश्रय है। तू ने ही उसको दिन-रात बांध रक्खा है।

निम्न लिखित पद्य में देव ने कदाचित् अपने हृदय के भाव प्रकट किये हैं—

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग
एरे मन मेरे हाथ पाव तेरे तोरतो।
आज लौं हौं कत नर-नाहन की नाहीं सुनि
नेह सों निहारि हारि वदन निहोरतो।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि
चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो।
भारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बांधि
राधावर विरुद के वारिध में बोरतो।

भगवान् सदैव भक्तों के ही वश में रहते हैं। वे भक्तों के अनुचर हैं। भक्त की पुकार सुनते ही उन्हें सब कुछ छोड़ कर उनके पास दौड़ कर आना पड़ता है—

धाये फिरौ ब्रज में बधाये नित नन्द जू के
गोपिन सधाये नाचो गोपन की भीर में।
देव मति मूढ़े तुम्हें ढूढ़ै कहां पावै चढ़े
पारथ के रथ, बैठे जमुना के नीर में।
अंकुस ह्वै दौरि हरनाकुस को फार्यो उर
साथी ना पुकार्यो हते हाथी हित हीर में।
विदुर की भाजी बेर भीलनी के खाय विप्र
चाउर चबाय दुरे द्रौपदी के चीर में।

भिखारीदास की एक उक्ति कविता और कामिनी पर सुनिए—

चन्द की कला सी सीत करनि हिये की गुन
पानी पंकलित मुकता हल के हार सी।

बेनी वर दिलसै प्रयाग-भूमि ऐसी है
अमल छवि छाज रही जैसे कछु आरसी।
दास नित देखिए सची सी सँग उर वसी
कामद अनूप कलपद्रुम की डार सी।
सरस सिंगार सुबरन वर भूपन सी
बनिता को, फविता है कविता उदार सी।

उन्हीं की दो और उक्तियां देखिए—

देस—बिनु भूपति दिनेस—बिनु पंकज
फनेस-बिनु मनि औ निसेस-बिनु जामिनी।
दीप-बिनु गेह औ सनेह-बिनु संपति
अदेह-बिनु देह घन-मेह बिनु दामिनी।
कविता सुछंद-बिनु मीन जल-वृन्द बिनु
मालती मलिन्द-बिनु होती छवि-छामिनी।
दास भगवन्त-बिनु संत अति व्याकुल
वसन्त-बिनु लतिका सुकन्त बिनु कामिनी।

और भी

नेगी बिनु लोभ को पटैत बिनु छोभ को
तपस्वी बिनु सोभ को सताये ठहराइये।
गेह बिनु पंक को सनेही बिनु संक को
सदा बिनु कलंक को सुबंस सुखदाइये।
विद्या बिनु दंभ-सूत आलस-विहीन दूत
विना कुव्यसन पूत मध्य मन ध्याइये।
लोभ-बिनु जप-जोग दास देह बिनु रोग
सोग-बिनु भोग बड़े भागन तें पाइये।

गिरिधर कविराय की कुण्डलियां हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। कृत्रिमता के युग में उन्होंने नीति को

सच्ची शिक्षा दी है। ये शिक्षायें उनकी आत्मानुभूति पर अवलम्बित हैं। इनमें उनके हृदय के उद्गार हैं। यही कारण है कि हृदय पर इनका प्रभाव भी पड़ता है। जब हिन्दी के कवि केवल यमकों और अनुप्रासों की व्यर्थ सृष्टि में अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे थे तब गिरिधर और उन्हीं के समान दो एक कवि अपने जीवन में सत्य-रत्नों को ढूंढ़ ढूंढ़ कर उनका संचय कर रहे थे। ये सत्य उनके जीवन से इतने संलग्न हैं कि ये उससे पृथक् ही नहीं किये जा सकते। ऐसा जान पड़ता कि कवि अपनी ही बातें बतला रहे हैं। कहीं कहीं तो उनके हृदय का आवेग-मात्र ही लक्षित होता है—

नैया मेरी तनकसी बोझी पाथर भार।
चहुँ दिशि अति भौंरे उठत केवट है मतवार।
केवट है मतवार नाव मँझधारहि आनी।
आंधी चलत उदण्ड तेहु पर बरसै पानी।
कह गिरिधर कविराय नाथ हौ तुमहिं खेवैया।
उठहि दया को डांड घाट पर आवै नैया॥

उरझी नाव कुठौर में परी भँवर बिच आय।
दीनबन्धु अब तोहिं बिन को करि सकै सहाय।
को करि सकै सहाय वहै करिया बिन नाउर।
आंधी उठी प्रचंड देखि अति आयो ताउर।
कह गिरिधर कविराय नाथ बिन कब केहि सुरझी।
तातें हा हा करौं मोरि विपदा में उरझी।

कौन कह सकता है कि निम्नलिखित पद्य में उन्होंने किसी अयोग्य अधिपति पर आक्षेप नहीं किया है—

सांई घोड़न के अछत गदहन पायो राज।
कौवा लैके हाथ में छोड़ि देत है बाज।

छोड़ि देत है बाज राज अब ऐसो आयो।
सिंहन को करि कैद स्यार गजराज चढ़ायो।
कह गिरिधर कविराय जहां यह बूझ बड़ाई।
तहां न वसिये रैन सांझ ही चलिए सांई।

श्वसुर के आश्रम में रहकर जीवन व्यतीत करता हुआ पुत्र कवि का कोई परिचित ही व्यक्ति रहा होगा—

सांई ऐसे पुत्र से बांझ रहे वरु नारि।
बिगरी बेटा बाप से जाय रहै ससुरारि।
जाय रहे ससुरारि नारि के नाम बिकाने।
कुल के धर्म नसाय और परिवार नसाने।
कह गिरिधर कविराय मातु झंखै वहि ठांई।
अस पुत्रनि नहिं होयँ बाँझ रहितिउँ वरु सांई।

निम्नलिखित पद्यों में उन्होंने कितने अच्छे ढंग से अपने अनुभवों को व्यक्त किया है—

बीती ताहि विसारिदे आगे की सुधि लेइ।
जो बनि आवै सहज में ताही में चित देइ।
ताही में चित देइ बात जा में बनि आवै।
दुर्जन हंसै न कोइ चित्त में खता न पावै।
कह गिरिधर कविराय यहै करु मन परतीती।
आगे को सुख समुझि जोइ बीती सो बीती।

अर्थात् जो लोग सदैव अतीत बातों की ही चिन्ता करते रहते हैं दुर्जन उनकी हंसी करते हैं। हृदय में दुख होता है और कोई कार्य भी पूरा नहीं होता। इसलिए बुद्धिमत्ता इसीमें है कि हम अतीत को भूल कर भविष्य की चिन्ता करें। भविष्य में ही तो सुख है।

साईं अपने भ्रात को कबहुं न दीजै त्रास ।
पलक दूर नहिं कीजिए सदा राखिए पास ।
सदा राखिए पास त्रास कबहूं नहिं दीजै ।
त्रास दियो लंकेश ताहि की गति सुनि लीजै ।
कह गिरिधर कविराय रामसों मिलिगो जाई ।
पाय विभीषण राज्य लंकपति बाज्यो साईं ।

अर्थात् अपने बन्धु-बान्धव के साथ कभी विरोध करना नहीं चाहिए। उनको कभी कष्ट नहीं देना चाहिए। उन्हें सदैव अपने पास ही रखना चाहिए। बन्धु-विरोध का परिणाम सदैव बुरा ही होता है। रामायण में विभीषण की कथा प्रसिद्ध है।

साईं अपने चित्त की भूलि न कहिए कोइ ।
तब लग मन में राखिए जब लग कारज होइ ।
जब लग कारज होइ भूलि कबहूं नहिं कहिए ।
दुरजन हंसै न कोय आप सियरे ह्वै रहिए ।
कह गिरिधर कविराय बात चतुरन की ताईं ।
करतूती कहिदेत आप कहिए नहिं साईं ।

अर्थात् कार्य-सिद्धि के पहले अपने मन की बात अपने मन में ही रखना चाहिए।

साईं बैर न कीजिए गुरु पण्डित कवि यार ।
बेटा बनिता पौरिया यज्ञ करावन हार ।
यज्ञ करावन हार राज मन्त्री जो होई ।
विप्र परोसी वैद्य आप को तपै रसोई ।
कह गिरिधर कविराय जुगन ते यहि चलि आई ।
इन तेरह सों तरह दिये बनि आवे साईं ।

अर्थात् इन तेरह व्यक्तियों से विरोध करना विपत्ति बुलाना है।

दौलत पाय न कीजिए सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चार को ठाउं न रहत निदान।
ठाउं न रहत निदान जियत जग में जस लीजे।
मीठे बचन सुनाय विनय सबहीं सों कीजे।
कह गिरधर कविराय अरे यह सब वट तौलत।
पाहुन निसिदिन चारि रहत सब ही के दौलन।

अर्थात् धनी व्यक्तियों में अहङ्कार के कारण जो सब से बड़ा दोष होजाता है वह है कटु भाषण। धनी को सदैव विनम्र होना चाहिए।

लटे पटे दिन काटिए घर में रहिए सोय।
छांह न वाको बैठिए पेड़ पातरो जोय।
पेड़ पातरो जोय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जड़से जैहै।
कह गिरिधर कविराय छांह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छांहे में रहिए।

अर्थात् निर्बलों का आश्रय कभी नहीं लेना चाहिए। जिनका चरित्र दुर्बल है वे श्रीमान होने पर भी आश्रय लेने योग्य नहीं है। जिनके चरित्र में दृढ़ता है वे श्री-हीन होने पर भी अपने आश्रितों की सहायता करेंगे।

कृतघन कबहुं न मानहीं कोटि करै जो कोय।
सरवस आगे राखिए तऊ न अपनो होय।
तऊ न अपनो होय भले की भली न मानै।
काम काढ़ि चुप रहै न पुनि ताकों पहिचानै।

कह गिरिधर कविराय रहत नितही निरभयमन ।
मित्र सत्रु सब एक दाम के लालच कृतघन ।

अर्थात् जो कृतघ्न होते हैं वे एक मात्र लोभ के वशीभूत होकर काम करते हैं। उनके लिए न कोई मित्र है न शत्रु ।

पद्माकर भट्ट ने जैसा अपना आत्म-परिचय दिया है वैसा कदाचित् किसी भी कवि ने नहीं दिया—

भट्ट तिलंगाने को बुन्देलखण्ड वासी नृप
सुजस प्रकासी पदमाकर सुनामा हौं ।
जोरत कवित्त छन्द छप्पय अनेक भांति
संस्कृत प्राकृत पढ़ै जु गुन ग्रामा हौं ।
हय रथ पालकी गयन्द गृह ग्राम चारु
आखर लगाये लेत लाखन को सामा हौं ।
मेरे जान मेरे तुम कान्ह हौ जगत सिंह
तेरे जान तेरो वह विप्र मैं सुदामा हौं ।

उपर्युक्त पद्य में पद्माकर ने अपनी विद्वत्ता और वैभव के साथ अपनी दीनता और अपने आश्रयदाता की उदारता को बड़े अच्छे ढंग से व्यक्त किया है। कृतज्ञता-द्योतक ऐसा पद्य कदाचित् हिन्दी में दूसरा नहीं है

दौलतराव सिंधिया की प्रशंसा में उन्होंने भूषण का ही अनुकरण किया है—

मीनगढ़ बम्बई सुमंद मंदराज बंग
बन्दर को बन्द कर बंदर बसावैगो ।
कहै पदमाकर कटाके काश्मीर हू को
पिंजर सो घेर के कलिंजर छुड़ावैगो ।

बांका नृप दौलत अलीजा महाराज कबू
साजि दल पकरि फिरंगिन को दाबैगो।
दिल्ली दहपट्ट पटना हूं को झपट्ट कर
कबहूं कलत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो।

महाराज रघुनाथराव के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है-

सम्पति सुमेर की कुबेर की जो पावै ताहि
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै पदमाकर सुहेम हय हाथिन के
हलके हजारन के वितर विचारै ना।
दीन्हे गज बकस महीप रघुनाथराव
याहि गज धोखे कहूं काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरजा गजानन को गोइ रही
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारै ना।

पद्माकर के प्रकृति-वर्णन में कहीं भी प्रकृति का चित्र नहीं रहता। केवल हृदय का कोई विशेष भाव रहता है। निम्नलिखित पद्य में वसन्त का वर्णन है—

कूलन में केलि में कछारन में कुँजन में
क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है।
कहै पदमाकर पराग हू में पौन हू में
पातिन में पीकन पलासन पगन्त है।
द्वार में दिशान में दुनी में देस देसन में
देखौ दीप दीपन में दीपित दिगन्त है।
बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगर्‌यो बसन्त है।

वसन्त में कवि के हृदय में जो उल्लास हुआ है वही इस पद्य में फूट पड़ा है। जिस अवस्था में न चिन्ता रही है,

न दुःख। जिसमें केवल आनन्द का विलास रहता है उसी का यह चित्र है। वही आनन्दोच्छ्वास, वही उमंग, उनके इस शरद्-वर्णन में भी है।

तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै
बृन्दावन बीथिन बहार बंसी बट पै।
कहै पदमाकर अखंड रास मंडल पै
मण्डित उमड़ि महा कालिन्दी के तट पै।
छिति पर छान पर छाजत छतान पर
ललित लहान पर लाड़िली के लट पै।
आई भले छाई यह सरद जुन्हाई जिहि
पाई छबि आजुही कन्हाई के मुकट पै।

पद्माकर का पावस-वर्णन देखिए—

चञ्चला चमाकैं चहुं ओरन तें चाह भरी
चरजि गई ती फेरि चरजनि लागी री।
कहै पदमाकर लवङ्गन की लोनी लता
लरजि गई ती फेरि लरजनि लागी री।
कैसे धरौं धीर वीर त्रिविध-समीर तन
तरजि गई ती फेरि तरजनि लागी री।
घुमड़ि घमण्ड घटा घन की घनेरी अबै
गरजि गई ती फेरि गरजनि लागी री।

है यह वियोगिनी की उक्ति, पर उसमें व्यथा कल्पित है। जो सत्य है वह कवि की आनंदमयी चित्त-वृत्ति है। चन्द्रमा पर उनकी एक उक्ति सुनिए—

सिन्धु के सपूत सुत सिन्धु तनया के बन्धु
मन्दिर अमन्द सुभ सुन्दर सुधाई के।

कहै पदमाकर गिरीस के बसे हो सीस
तारन के ईस मुलकारन कन्हाई के।
हाल ही के विरह विचारि ब्रज बाल ही पै
ज्वाल से जगावत हो ज्वाल ही जुन्हाई के।
एरे मतिमन्द चन्द आवत न तो को लाज
ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई के।

कितने ही स्थलों में पद्माकर ने साधारण मनोभावों का वर्णन विशेष ढंग से किया है। उन्होंने केवल शब्द-विन्यास से पाठकों में कौतूहल का भाव जाग्रत किया है—

सजि ब्रज बाल नंदलाल सो मिलै के लिए
लगनि लगा लगि मैं लमकि लमकि उठै।
कहै पदमाकर चिराग ऐसी चाँदनी सी
चारौं ओर चौकनि मैं चमकि चमकि उठै।
झुकि झुकि झूमि झूमि झिल झिल झेल झेल
झरहरी झांपन में झमकि झमकि उठै।
दर दर देखो दरीखानन में दौरि दौरि
दुरि दुरि दामिनी सी दमकि दमकि उठै।

अथवा

ताकिये तितै कुसुम्म सों चुवोई परै
प्यारी परबीन पाउँ धरत जितै जितै।
कहै पदमाकर सुपौन ते उताली बनमाली
पै चली यों बाल बासर बितै बितै।
भार ही के डरन उतारि देत आभरन
हीरन के हार देति हिलन हितै हितै।
चांदनी को चौसर चहूंधा चौक चांदनी मैं
चांदनी सी आई चन्द चांदनी चितै चितै।

उपर्युक्त पद्यों में केवल विनोद का भाव है। भावों में रस की सरिता में कवि शब्दों की तरंगें उछालकर क्रीड़ा कर रहे हैं। परन्तु जान पड़ता है कि कविता के वसन्त-कानन में यह क्रीड़ा कुछ ही समय तक रही—

औरे भांति कुञ्जन गुञ्जरत भौंर भीर
और डौर झौरन मैं बौरन कै ह्वै गए।
कहै पद्माकर सु औरे भांति गलियान
छलिया छबीले छल औरे छबि छ्वै गए।
औरे भांति बिहंग समाज में अवाज होत
ऐसो ऋतुराज के न आज दिन द्वै गए।
औरे रस औरे रीति औरे राग औरे रंग
औरे तन औरे मन औरे वन ह्वै गए।

पद्माकर की भक्ति उनकी गंगा-लहरी से प्रकट होती है।

कूरम पै कोल कोल हू पै शेष कुण्डली है
कुण्डली पै फबी फैल सु फन हजार की।
कहै पदमाकर त्यौं फन पै फबी है भूमि
भूमि पै फबी है छिति रजत पहार की।
रजत पहार पर शम्भु सुरनायक हैं,
शम्भु पर ज्योति जटा जूट है अपार की।
शम्भु जटा जूट पर चन्द्र की छुटी है छटा
चन्द की छटान पै छटा है गंगधार की॥
जैसे तैं न मोको कहूं नेक हूं डरात हुतो
तैसे अब तोसों होंहुं नेक हूं न डरिहौं।
कहै पदमाकर प्रचड जो परैगो तौ
उमड़ि करि तोसों भुज दंड ठोंकि लरि हौं।

चलो चलु चलो चलु विचलु न बीच हीतें
कीच बीच नीच तौ कुटुम्ब को कचरि हौं।
ऐरे दगादार मेरे पातक अपार
तोहिं गंगा की कछार में पछारि छारि करि हौं॥
विधि के कमण्डलु की सिद्धि है प्रसिद्धि यही
हरि पद पंकज प्रताप की लहर है।
कहै पदमाकर गिरीश शीश मण्डल के
मुण्डन की माल ततकाल अघहर है।
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ
जह्नु जप योग फल फैल की फहर है।
क्षोभ की छहर गंगा रावरी लहर
कलिकाल को कहर यमजाल को जहर है॥
अधम अमान एक चढ़ि कै विमान भाष्यो
बूझत हौं गंगा तोहिं परि परि पाय हौं।
कहै पदमाकर कृपाल ह्वै बतावो सांची
देखे अति अद्भुत रावरे सुभाय हौं।
तेरे गुन गान ही की महिमा महान मैया
कान कान गाइ के जहान यश छाय हौं।
एक मुख गाये तातें पंचमुख पाये
अब पंच मुख गाइहौं तो केते मुख पाय हौं।

पद्माकर की रचनाओं में ब्रज-साहित्य के सभी गुण और सभी दोष विद्यमान हैं। उनमें शब्दों की छटा भी है और निरर्थक अनुप्रासों और यमकों की सृष्टि भी है। उनमें गम्भीर भाव भी है और अस्वाभाविक नायक–नायिकाओं का कृत्रिम प्रेम-वर्णन भी है। कहीं उक्ति-वैचित्र्य है और कहीं गूढ़ व्यथा है—

ये ब्रजचन्द चलो किन वा ब्रज
लूक बसन्त की ऊकन लागी।
त्यों पदमाकर पेखो पलासन
पावक सी मनो फूकन लागी।
वै ब्रजनारी विचारी वधू
बन वावरी लौं हिये हूकन लागी।
कारी कुरूप कसाइन पै सु
कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागी॥

और भी

रे मन साहसी साहस राख
सु साहस सों सब जेर फिरैंगे।
त्यों पदमाकर या सुख में दुख
त्यों दुख में सुख सेर फिरैंगे।
वैसहि वेणु बजावत श्याम
सुनाम हमारो हु टेर फिरैंगे।
एक दिना नहिं एक दिना
कबहूं फिर वे दिन फेर फिरैंगे।

और भी

जाहिरै जागत सी जमुना जब
बूड़ै बहै उमहै वह वेनी।
त्यों पदमाकर हीरा के हारन
गंग तरंगन सी सुख देनी।
पायन के रँग सों रँगिजात सी
भाँतिहि भाँति सरस्वति सेनी।
पैरै जहांई जहां वह बाल
तहां तहां ताल में होत त्रिवेनी।

भक्ति-सम्बन्धी उनके उद्गार सुनिए—

हानि अरु लाभ ज्यान जीवन अजीवन हू
भोग हू वियोग हू संयोग हू अपार है।
कहै पदमाकर इते पै और केते कहौं
तिनको लख्यो न वेद हू में निरधार है।
जानियत या रघुराय की कला को कहूं
काहू पार पायो कोऊ पावत न पार है।
कौन दिन कौन छिन कौन घरी कौन ठौर
कौन जाने कौन को कहा धौं होनिहार है॥

प्रलय के पयोनिधि लौं लहरें उठन लागीं
लहरा उठ्यौ तो हौन पौन पुरवैया को।
भीर भरी भावरी विलोकि मँझधार परी
धीर न धरात पदमाकर खेवैया को।
कहां वार, कहां पार, जानी है न जात कछू
दूसरो देखात न बचैया और नैया को।
बहन न पैहै घेरि घाट ही लगैहै
ऐसो अमिट भरोसो मोहि मेरे रघुरैया को॥

व्याध हूँ ते विहद असाधु हौं अजामिल लौं
ग्राह तें गुनाही कहौ तिन में गिनाओगे।
स्यौरी हौं न सूद्र हौं न केवट कहूँ को त्यों न
गौतमी तिया हौं जापे पग धरि आओगे।
राम सों कहत पदमाकर पुकारि तुम
मेरे महा पापन को पारहू न पाओगे।
झूठो ही कलंक सुनि सीता ऐसी सती तजी
हौ तो सांचो हूं कलङ्की ताहि कैसे अपनाओगे॥

जोग जप सन्ध्या साधु साधन सबैई तज्यो
कीन्हे अपराध जो अगाध मन भावते ।
तेते तजि अवगुण अनन्त पद्माकर तो
कौन गुण लैके महाराजहिं रिझावते ।
जैसे अब तैसे पै तिहारे बड़े काम के हैं
नाहीं तो न येते बैन कबहूँ सुनावते ।
पाउते न मोसों जो पै अधम कहूँ तो राम
कैसे तुम अधम उधारन कहावते ॥

जाटहू धना के सदना के शुद्ध साथी भये
हाथी हू उबारत न वार मन लाये हैं ।
कहै पद्माकर कहै न परे तेते जग
जेते कपि कृक्षन के विरद बढ़ाये हैं ।
साधन के हेत पण पाल्यो प्रहलाद हू को
याद करो जाय शवरी के बेर खाये हैं ।
राखत हैं राखेंगे रखैया रघुनाथ जन
आपने की बात सदा राखतेई आये हैं ।

दीन दयाल गिरि की अन्योक्तियां हिंदी-साहित्य में प्रसिद्ध हैं—

करिए शीतल हृदय बन सुमन गयो मुरझाय ।
सुनो बिनय घनश्याम हे सोभा सघन सुहाय ।
सोभा सघन सुहाय कृपा की धारा दीजै ।
नील कंठ प्रिय मालि सरस जग में जस लीजै ।
बरनै दीन दयाल तृषा द्विजगन की हरिए ।
चपला सहित लखाय मधुर सुर कानन करिए ।

अर्थात् आज इस देव-भूमि की हीन दशा है। द्विजों की भी दुरवस्था है। तुम्हारे भक्तों को भी कहीं आश्रय नहीं हैं। उनके हृदय सन्तप्त हैं। उनका मन म्लान होगया है। हे घनश्याम, अब आप आकर उन पर कृपा कीजिए।

भीसम ग्रीषम ताप में भयो झाँवरो छीन।
है यह चातक डावरी अनुग रावरो दीन।
अनुग रावरो दीन लीन आधीन तिहारे।
रहै नाम वसु जाम रहै घनश्याम निहारे।
बरनै दीन दयाल पालिये लखि तप तीखन।
सरी सरोवर सिन्ध काहु इन मांगी भीखन।

अर्थात् आज इस भव के भीषण संताप से तुम्हारा अनन्य भक्त अत्यन्त क्षीण हो गया है। वह तो तुम्हें ही पुकारता है। तुम्हीं एक-मात्र उसके आश्रय हो, अन्य किसी का भी आश्रय उसने नहीं लिया। आज उसके सन्ताप को देखकर तो तुम उसकी रक्षा करो।

जग को धन तुम देत हौ गजि कै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे तापर परे पखान।
तापर परे पखान बान यह कौन तिहारी।
सरित सरोबर सिन्धु तजे इन तुमें निहारी।
बरनै दीन दयाल धन्य कहिए यहि खग को।
रह्यो रावरी आस जन्म भरि तजि सब जग को।

अर्थात् सर्वत्र आपकी कृपा दृष्टि है। जो आपका अनन्य भक्त है उसी पर विपत्ति है। इसने तो संसार का, पार्थिव वैभव का, तिरस्कार कर सदैव आपका ही ध्यान किया है।

आयो चातक बूंदि लगि सब सर-सरित बिसारि।
चहियत जीवन दानि तिहि निरदै पाहन मारि।
निरदै पाहन मारि पंख बिन ताहि न कीजे।
थाहि रावरी आस प्याय हरि जग जस लीजे।
बरनै दीन दयाल दुसह दुख अन्तप तायो।
तृषावन्त हित पूर दूरते चातक आयो।

अर्थात् आपकी कृपा दृष्टि के लिए यह सब कुछ भूल कर आपका शरणागत हुआ है। उस पर आप निर्दय न होइए। उसकी कामना को सफल कीजिए। उसकी तृष्णा को दूर कीजिए।

जिन संसिन को सींच तुम करी सु हरी बहारि।
तिनको दई न चाहिए हे घन पाहन भारि।
हे घन पाहन भारि भली यह कही न बेदन।
गरलहु को तरु लाय न चहिए निजकर छेदन।
वरनै दीन दयाल जगत बसिवो द्वै दिन को।
लेहु कलंक न कंद पाल कलि जिन संसिन को।

अर्थात् आपने ही तो इसको बड़ा बनाया है। अब क्या आप ही उसको नष्ट करेंगे। विष-वृक्ष को भी बढ़ा कर लोग स्वयं उसे नहीं काटते। भला, आप यह कलंक क्यों लेते हैं।

भूले अब घन तुम किते प्रथमै याको पालि।
लखत रावरी राह को सूख गयो यह सालि।
सूख गयो यह सालि अहो अजहूं नहिं आए।
दै दै नाहक नीर सिन्धु में सुदिन गवांए।
वरनै दीन दयाल कहा गरजत हौ फूले।
समै न आये काम काम कौने भ्रम भूले।

अर्थात् जो आपके आश्रित हैं, जो आप की ही ओर आशा लगाये खड़े हैं उन पर तो आपकी कृपा दृष्टि होती नहीं। जिन्हें आपकी कृपा की आवश्यकता नहीं उन पर आप कृपा कर रहे हैं। यही तो दया करने का ठीक अवसर है।

बरसै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमि है नाहिं।
अंकुर जमि है नाहिं बरस शत जो जल दैहै।
गरजै तरजै कहा वृथा तेरो श्रम जैहै।
बरनै दीन दयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्यां तू बरखै।

जो अपात्र हैं, जो अयोग्य हैं, उनके लिए आपका यह दान व्यर्थ है, उनके लिए आपका सारा परिश्रम किसी काम का नहीं। आज आप पात्र और अपात्र का बिना विचार किये ही अपनी सम्पत्ति का, अपनी कृपा का, अपव्यय कर रहे हैं।

[३]

व्रज-साहित्य का अंतिम युग मुगल-साम्राज्य का अंतिम युग है। श्रीमानों की संरक्षकता में कवियों ने कला की जो विभूति की थी वह उनका संरक्षण न रहने पर लुप्त होगई। अतएव कविता का विषय भी अत्यंत हीन होगया। मौलिकता और नवीनता न रहने पर भी साहित्य में केवल कल्पना के द्वारा श्री निर्मित की जा सकती है। वह श्री भी चली गई। एक कविने हताश होकर लिखा है—

शाह भये सूमड़ा सु बादशाह हीन हद्द
खग्गे खगरेटन दुशाला बेंच खाई है।
भोले भये भूपति कनौड़े धनवन्त सब
मूरख महन्त अन्ध देत ना दिखाई है।

कायथ कपूत भये कूर रजपूत धूत बनिया
वरूथ पेखि पुञ्ज पछिताई है।
काके ढिग जाई काहि कवित सुनाई भाई
अब कविताई रही फजिहतिताई है।

इसलिये अधिकांश कविताओं में कवियों का केवल मानसिक क्षोभ ही व्यक्त हुआ है। एक कवि की उक्ति है—

ह्वै कै महाराज हय हाथी पे चढ़े तो कहा
जो पै बाहु बल निज प्रजनि रखायो ना।
पढ़ि पढ़ि पण्डित प्रवीन हूं भये तो कहा
विनय विवेक युत जो पै ज्ञान गायो ना।
अम्बुज कहत धन धनिक भयो तो कहा
दान करि जो पै निज हाथ जस छायो ना।
गरजि गरजि घन घोरनि कियो तो कहा
चातक के चोंच में जो रंच नीर नायो ना।

एक तो कवियों की ऐसी दुरवस्था थी, ऊपर से कुछ लोग उनकी 'विदाई' में भी बाधा डालते थे। इसी पर एक कवि ने अत्यंत रुष्ट होकर लिखा है—

खात हैं हराम दाम करत हराम काम
घर घर तिनहीं के अपजस छावेंगे।
दोजख में जैहैं तब काटि काटि कीड़े खैहैं
खोपरी को गूद काग टोटनि उड़ावेंगे।
कहैं करनेस अबैं घूसनि तें गजि तजै
रोजा औ निमाज अन्त जम कढ़ि लावेंगे।
कविन के मामले में करैं जौन खामी
तौन नमक हरामी मरे कफन न पावेंगे।

सच्ची बात यह है कि भारतवर्ष के लिए यह अन्धयुग था। ब्रज-साहित्य में भी नव-शक्ति सञ्चार करने के लिए नवयुग की आवश्यकता थी। उन दिनों लोगों के लिए भविष्य अन्धकारमय हो रहा था। उनके लिए भारत पर कलियुग का पूरा आधिपत्य होगया था। उनमें न शक्ति थी, न साहस था, न उत्साह। इसी से कविगण सर्वत्र अनाचार और वैपरीत्य ही देखते थे—

कूर भये कुंवर मजूर भये मालदार
सूर भये गुपत असूर भये जबरे।
दाता भये कृपन अदाता कहैं दाता हम
धनी भये निर्धन निर्धन भये गबरे।
सांचन की बात ना पत्यात कोऊ जग मांझ
राज दरबारन बुलैये लोग छबरे।
भनत प्रवीन अब छीन हिम्मत सो
कलियुग अदलि बदलि डारे सिगरे॥

एक दूसरे कवि ने कलियुग के प्रभाव को इस प्रकार वर्णित किया है—

राजन की नीति गई मीत की प्रतीति गई
नारिन की प्रीति गई जार जिय भायो है।
शिष्यन को भाव गयो पंचन को न्याय गयो
सांच को प्रभाव गयो झूठ ही सुहायो है।
मेघन की वृष्टि गई भूमि सो तौ नष्ट भई
सृष्टि पै सकल विपरीत दरसायो है।
कीजिए सहाय हे कृपाकर गोविन्दलाल
कठिन कराल कलिकाल अब आयो है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कलियुग का प्रभाव हिन्दी के कवियों पर ही सबसे अधिक पड़ा। विदाई में एक रुपया भी न पाने वाले कवि की उक्ति सुनिए—

जामें द्वै अधेली चार पावली दुअन्नी आठ
तामें पुनि आना सखी सोरह समात है।
बत्तिस अधन्नी जामें चौसठ पईसा होत
एक सौ अठाइस अधेला गुनमात है।
युग शत छप्पन छदाम तामें देखियत
दमरी सु पांच शत बारह लखात हैं।
कठिन समैया कलिकाल को कुटिल दैया
सलग रुपैया भैया कापै दियो जात है।

सप्तम परिच्छेद

[१]

रतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी हिन्दी-साहित्य में नवयुग के प्रवर्तक हैं। उनके समय से लेकर आज तक हिन्दी-साहित्य का विस्तार बढ़ता ही गया है। परन्तु गत पचीस वर्षों में हिन्दी की विशेष उन्नति हुई है। श्रेष्ठ विद्वानों की राय है कि प्रत्येक देश का इतिहास कई युगों में बटा रहता है। प्रत्येक युग में एक विशेष सभ्यता, कुछ विशेष विचारों और भावनाओं तथा उनही के अनकूल संस्थाओं का प्राधान्य रहता है। उनके द्वारा देश दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता दिखाई देता है। किन्तु कालान्तर में वही विचार, वहीं भावनायें, वही संस्थायें ऐसी विकृत हो जाती हैं कि उनका प्रारम्भिक बल जाता रहता है। तब

प्रकृति के विकास-नियम के अनुसार एक नवीन सभ्यता का उद्भव होता है, लोग उन्नति के नये नये मार्ग खोजते हैं, नये नये प्रयोग करते हैं। देश में प्रमाद, आलस्य और मिथ्याचार के स्थान में एक जाग्रति की लहर सी छा जाती है। इसी लहर को इतिहासज्ञ एक नवीन युग का प्रादुर्भाव कहते हैं। १६ वीं शताब्दी में भारतवर्ष में एक इसी प्रकार के युग का जन्म हुआ था। बङ्गाल के प्रसिद्ध विद्वान जदुनाथ सरकार का कथन है कि १८ वीं शताब्दी के मध्यकाल में ही मुगल-सभ्यता उस पहलवान के सदृश हो गई थी जिसकी शक्ति के ह्रास हो जाने के कारण बात बात में दम फूलने लगता है। यही क्षीणता समाज के अङ्ग अङ्ग में प्रवेश कर गई। किन्तु तत्कालीन भारतवर्ष के जीवन में इसके लक्षण सबसे पहले सैनिक और राजनैतिक दौर्बल्य के रूप में प्रकट हुए थे। देश में स्वयं अपनी रक्षा करने की शक्ति न रह गई थी। बादशाह के सिर पर ताज तो था किन्तु उसको सम्हालने के लिये न उसके बाहुओं में बल था और न मस्तिष्क में योग्यता। दरबारियों की भी बड़ी दुर्दशा थी। सबको अपनी अपनी पड़ी थी। स्वार्थ के मारे वे सामूहिक भलाई का अर्थ ही न समझ सकते थे। सौ बात की बात यह कि साम्राज्य में सर्वत्र मिथ्याचार, अनाचार, छल और कपट का दौरदौरा था। इस व्यापक और भयङ्कर गड़बड़ी के कारण लोग सत्साहित्य, शिल्प और कला, यहां तक कि धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों को भी भूल बैठे थे। ठीक इसी अवसर पर योरप ने इसके साथ मुठभेड़ शुरू की। इसके वेग को रोकना भारतवर्ष के लिये असम्भव था। हार अवश्यम्भावी होगई। पचास वर्षों के ही भीतर सारे भारत पर इंग्लेंड का आतङ्क छा गया।

इसके पश्चात् जो समय आया उसको हम आधुनिक भारतवर्ष का अन्ध-युग कह सकते हैं। यह समय मोटे तौर से सन् १७६० से १८३० तक अर्थात् कार्नवालिस के शासन-काल से बेनटिङ्क के शासन-काल तक रहा है। इसको अन्ध-युग इस लिये कहा है कि इस समय प्राचीन सभ्यता और संस्कृति तो एक दम ठंडी पड़ गई थी और नवीन का जन्म ही नहीं हुआ था। लोग हैरान थे। यह कोई नहीं कह सकता था कि भावी भारतवर्ष का जीवन किस सांचे में ढाला जानेवाला है। किन्तु शायद इसको आधुनिक भारतवर्ष का वपन-काल कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसी समय में बीज पृथ्वी फाड़कर अङ्कुर निकालने का उद्योग कर रहा था।

इसके समाप्त होते ही भारतवर्ष का आधुनिक युग चलता है। भारतवासियों ने अपनी दिशा निश्चित कर ली थी। इंगलैंड में इन दिनों धड़ाधड़ सुधार हो रहे थे। भारत-वासियों ने उन्हीं का अनुकरण किया। राष्ट्रीय-जीवन किसे कहते है, देश के शासन में नागरिक के क्या अधिकार होने चाहिये, इन बातों की शिक्षा भारतवासियों को पश्चिम से ही मिली। उन्नतिशील भारतवासी इन्हीं विचारों के आधार पर देश के जीवन का संस्कार करने लगे। किन्तु इन भारतवासियों की कायापलट हो गई थी। ये एक दूसरे ही रंग में रंगे हुए थे। इनका उपास्य देव पूर्व नहीं, पश्चिम था। इनमें से अधिकांश अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के पण्डित हो चुके थे। आधुनिक भारतवर्ष की आधार-शिला इन्हीं लोगों ने जमाई है। यही भारतवर्ष के प्रारम्भिक नेता हैं। राजा राममोहन राय नवयुग के सबसे बड़े गुरु और आचार्य

थे। अन्ध-युग के अन्धकार से निकाल कर भारतवर्ष को पश्चिम के ज्ञान-सूर्य के दर्शन कराने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त हुआ है।

इस आन्दोलन का सबसे पहला सुफल हुआ विचार-स्वातन्त्र्य। भारतवासियों को विश्वास होगया कि अब लकीर के फकीर बनने से काम नहीं चल सकता। बुद्धि और विवक के आधार पर ही हमको अपने भावी-जीवन का निर्माण करना होगा। इस आन्दोलन का जन्म और प्रचार सबसे पहले बङ्गाल-प्रान्त में हुआ था। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि पहले इसी पर अँगरेज़ों ने अपना प्रभुत्व जमाया था और दूसरा यह कि मुग़ल-युग में भी मुस्लिम सभ्यता से इसका बहुत कम सम्पर्क हुआ था। इसलिये इनको अपने प्राचीन विचार छोड़ने और पश्चिमी विचार अपनाने में अधिक कष्ट का अनुभव नहीं हुआ। यही कारण था कि १९ वीं शताब्दी के पहले भाग में बङ्गाली लोग अँगरेज़ी शिक्षा और पद्धति पर बेतरह मुग्ध हो गये थे। उनके अग्रगण्य नेताओं का भी यही विचार हो रहा था कि यदि हम अपनी अवनत दशा से उन्नत होना चाहते हैं तो हमारे लिये अँगरेज़ी भाषा और साहित्य के अध्ययन के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है।

पाश्चात्य-सभ्यता का प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा। उसी के कारण हिन्दी-साहित्य का स्वरुप परिवर्तित होगया। इसके पहले हिन्दी के गद्य का कोई स्थिर रूप नहीं था। प्राचीन साहित्य में गद्यात्मक रचनाओं का अभाव है। जो दो एक गद्यात्मक रचनायें है वे प्रान्तीय भाषाओं में है। हिन्दी का आधुनिक गद्य-साहित्य पाश्चात्य शिक्षा का ही फल है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ में लल्लूलाल, राजा लक्ष्मण सिंह, राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम प्रसिद्ध हैं। लल्लूलाल जी का प्रेम सागर अभी तक आदरणीय है। राजा लक्ष्मण सिंह ने कालिदास के रघुवंश, मेघदूत और अभिज्ञान-शाकुन्तल का अनुवाद करके हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। राजा शिवप्रसाद जी से हिन्दी साहित्य को प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकें प्राप्त हुईं। भारतेन्दु जी की कुछ रचनायें हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति हैं। उनकी रचनाओं से सब से बड़ा लाभ यह हुआ कि साहित्य का आदर्श ही बदल गया। लोगों ने मानव-जीवन से भी कला की सामग्री प्राप्त करने की चेष्टा की। यह प्रयत्न अभी तक हो रहा है। हरिश्चन्द्र के पहले सज्जाद सुम्बुल तथा परीक्षा-गुरु के समान ग्रन्थों की रचना नहीं की जा सकती थी। ये दो ग्रन्थ साहित्य के श्रेष्ठ रत्न नहीं है, परन्तु इनसे यह प्रकट हो जाता है कि हिन्दी में मनुष्य भी कला का विषय होगया है, नायक के रूप में नहीं किन्तु अपने यथार्थ रूप में। एक विद्वान ने लिखा है--

साहित्य के लिये वह दिन बड़ा महत्व-पूर्ण होगा जब लोग यह समझने लगेंगे कि कला की अभिव्यक्ति के लिए किन उपायों का अवलम्बन किया जाता है। वे स्वयं कला नहीं है। कला साध्य है और वे उपाय साधन मात्र हैं। साधन को साध्य नहीं समझना चाहिये। चित्र-कला अथवा सङ्गीत-कला में लोग साध्य-साधन के विषय में इतनी भूल नहीं करते जितनी कविता में। रङ्ग से चित्र अङ्कित किया जाता है, परन्तु कपड़े पर सिर्फ रङ्ग भर देने से उसे कोई भी चित्र नहीं कहेगा। इसी प्रकार सङ्गीत की अभिव्यक्ति के लिये ध्वनि की आवश्यकता है, पर सिर्फ ध्वनि से सङ्गीत की

सार्थकता कोई स्वीकार न करेगा। रङ्ग तथा ध्वनि सिर्फ साधन हैं और साध्य है कला। परन्तु कविता में साध्य-साधन की विवेचना इतनी स्पष्ट नहीं है। भाषा, छन्द और अलङ्कार, ये कवित्व-कला के साधन हैं। तो भी यदि किसी की छन्दोमयी रचना में भाषा का सौष्ठव और अलङ्कार का चमत्कार विद्यमान है, तो लोग उसे कविता मान लेंगे। वे यही कहेंगे कि इसमें कवित्व-कला के साधन हैं, अतएव यह कविता है। कभी कभी तो अलङ्कार और भाषा-सौष्ठव से हीन रचना भी छन्दोमयी होने के कारण कविता मानली जाती है। अधिकांश लोगों की यह धारणा इतनी प्रबल है कि सिर्फ पद्य-रचना ही कविता समझी जाती है।

हिन्दी में जो लोग गद्य-पद्य के झमेले में पड़े रहते हैं, वे साध्य-की अपेक्षा साधन ही पर अधिक जोर देते हैं। खड़ी बोली में अच्छी पद्य-रचना नहीं होती अथवा नहीं हो सकती इसका निर्णय करना हमारी समझ में आवश्यक नहीं हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि सर्वसाधारण के चित्त में कविता के विषय में जो भ्रम है उसे दूर कर देना चाहिये। उन्हें यह समझा देना चाहिये कि कविता न तो छन्द है, न अलङ्कार है, न रस है। वह जीवन का पूर्ण रूप है, जिसमें ये सभी विद्यमान हैं। कुछ लोग असाधारणता में कवित्व-कला की पराकाष्ठा देखते हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में साधारणता की प्रधानता है। यदि सरल भाषा में मनुष्य की सरल भावना व्यक्त करदी जाय, तो लोग उसमें कवित्व-कला की छटा नहीं देख सकेंगे। यही कारण है कि कविताओं में-विशेष कर ब्रज-भाषा की कविताओं में-प्रकृति का यथार्थ चित्र

हम कम देखते हैं। वर्षा होती है, नदी उमड़ उमड़ कर बहती है, मेघ गरजते हैं, बिजली तड़पती है, पर हिन्दी के कवियों के लिये प्रकृति का यह विलास किसी नायक-नायिका के मनोविनोद के लिये होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी प्रकृति के एक एक दृश्य से संसार की निस्सारता सिद्ध करते हैं। हम उनकी ओर विस्मय-विमुग्ध होकर अवश्य देखते हैं, पर प्रकृति की छटाकी ओर हमारा ध्यान नहीं, जाता। वर्षा विगत शरद् ऋतु आई, पर हम गोस्वामी जी की आध्यात्मिक भावना में लीन रहे। उसके आगे प्रकृति की शोभा बिलकुल दब गई। अन्य कवियों ने प्राकृतिक-सौन्दर्य को सांसारिक कामनाओं के नीचे दबा दिया है। इधर वर्षा हो रही है, उधर अश्रुधारा से किसी कामिनी का कपोल भीग रहा है। चन्द्रोदय क्या हुआ, विरहाग्नि की ज्वाला भभक उठी। दक्षिण की हवा बही और उसके साथ वियोगिनी आहें भरने लगी। हम यह नहीं कहते कि ये बाते होती हो नहीं। ये होती हैं, पर इनकी गणना असा-धारण घटनाओं में करनी चाहिये।

जब कोई विरक्त सन्यासी चञ्चलता की चमक में संसार की क्षणभंगुरता देखता है तब कितने ही छोटे छोटे लड़के वर्षा में हंसते कूदते रहते हैं। कोई किसान भींगता हुआ, अपनी गायों को खदेड़ता हुआ घर लौटता है, कोई अपने घर में बैठे बैठे वर्षा की शोभा देख कर आनन्दित होता है। इन लोगों की भावनायें हिन्दी के कितने कवियों ने व्यक्त की हैं? मनुष्य सभ्यता के अन्तिम सोपान पर भले ही पहुंच जाय पर वह उन भावनाओं को नहीं भूल सकता जिनसे उनका जीवन बना है। बच्चे को सुलाती हुई

माता में जो सौन्दर्य है वह किसी नायिका के भावावेश में नहीं है। नवदम्पत्ति के लज्जाशील नेत्रों में जो छवि है वह किसी नायिका की लीला में नहीं है। दुःख और दारिद्र, प्रेम और सहानुभूति के केन्द्र स्थल हैं। जो भाव देश और काल का अतिक्रमण कर समस्त मानव-जाति में व्याप्त हो वही कला का प्रधान विषय है। संसार में सुख है, तो दुख भी है। कहीं प्रकाश है तो कहीं अन्धकार भी है। अतएव कविता से जनता का सम्बन्ध तभी स्थापित होगा जब लोग उसमें अपने हृदय की समस्त भावनायें देख सकेंगे। कल्पना के द्वारा कवि सर्वत्र वैभव का विलास देख सका है। परन्तु उसे मनुष्य का अन्तर्जगत भी देखना चाहिए। उसे बालकों की सरलता, युवकों की उद्दाम वासना, वृद्धों की विरक्ति, पापियों का अन्तस्ताप और हतभाग्यों की निराशा का अनुभव करना चाहिये। इनका यथार्थ चित्र खींचकर जनता के हृदय में इन्हीं भावों का उद्रेक करना चाहिये। हिन्दी के पाठक अभी तक कविताओं को कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देख सकते हैं। वे समझते हैं कि कविता में विलक्षणता रहती है। उसका सौन्दर्य उनके लिये रहस्यपूर्ण रहता है। अतएव यदि उनके सामने सौन्दर्य का यथार्थ रूप रख दिया जाय तो वे उसमें सौंदर्य देख ही नहीं सकते। कविता को वे अपने जीवन से सर्वथा पृथक् समझने लगे हैं। इस लिये जब वे उसमें अपना जीवन देखते हैं तब या तो वे उसे कविता ही नहीं मानते या मानेंगे तो उसे रहस्यपूर्ण समझने लगेंगे। आख्यायिकायें और उपन्यास भी कविता के अंतर्गत हैं। उनमें भी विलक्षणता मानी जाती है। पर यह भ्रम है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि कला का सौंदर्य किसी

रहस्यागार में नहीं छिपा हुआ है। वह सर्वत्र व्याप्त है। वह सभी को उपलभ्य है। वह साधारण है, असाधारण नहीं।

एक विद्वान् ने बड़े और छोटे कवियों में यह भेद बतलाया है कि प्रायः कला का नैपुण्य छोटे कवियों में ही अधिक प्रदर्शित होता है। कला की दृष्टि से जो रचना पूर्ण प्रतीत होती है उसकी महत्ता के विषय में लोगों को सन्देह होने लगता है। यह सच है कि कविता स्वयं एक कला है और भाव की अभिव्यक्ति के लिये सभी कलाओं को एक निर्दिष्ट पथ से जाना पड़ता है। साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञों ने कविता के लिये जो नियम निर्धारित किये हैं उनका एक मात्र उद्देश यही है कि कवित्व-कला का पूर्ण विकास हो। परन्तु जब कवि उन्हीं नियमों के अनुधावन में अपनी शक्ति लगा देता है तब हमें यही सन्देह होता है कि कहीं इस कवि की कला निष्प्राण तो नहीं है। बात यह है कि हम कवियों से यही आशा रखते हैं कि उनकी कला का आधार मनुष्य-संसार हो, उससे मानव-जीवन की यथार्थ समीक्षा की गई हो।

ऊपर हम कह आये हैं कि आधुनिक साहित्य के कुछ ही ग्रन्थ स्थायी साहित्य में परिगणित हो सकते हैं। साहित्य के दो विभाग किये जा सकते हैं, एक तो सामयिक साहित्य जो तत्कालीन समाज का हित-साधन करता है और दूसरा स्थायी साहित्य जो समाज के भविष्य-भाग का विधाता है। सामयिक साहित्य समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता, वह उसकी रुचि के अनुकूल ही चलता है। पर स्थायी साहित्य को समाज के विरुद्ध भी चलना पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि इससे पहले-पहल उसकी उपेक्षा की जाती

है, फिर उपहास किया जाता है और अन्त में उस पर घोर आघात भी किये जाते हैं। यदि वह इन सबका सामना कर सका तो समझना चाहिये कि वह चिर-काल तक जीवित रहेगा।

पद्य की अपेक्षा गद्य का सम्बन्ध जन-समाज से अधिक है। गद्य समाज की स्वाभाविक भाषा है और पद्य में कृत्रिमता अवश्य रहती है। इसीलिये जब जन-समाज को शिक्षा देने के लिये साहित्य की सृष्टि होती है तब गद्य का ही आश्रय लिया जाता है। भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य होने से जनता में शिक्षा का प्रचार बढ़ा। तब गद्यात्मक-साहित्य की भी वृद्धि हुई। लल्लूलाल और शिवप्रसाद के ग्रन्थ सच पूछिये तो शिक्षा-विभाग के ग्रन्थ थे। उनके बाद जो लेखक हुए उन्हें भी राजाओं अथवा विद्वानों की मनस्तुष्टि नहीं करनी थी। उन्हें जन-समाज को शिक्षित करना था। अतएव अधिकांश रचनायें सामयिक ही हैं।

हिन्दी में अभी तक सामयिक कविताओं की ही धूम है। देश के सामाजिक और और राजनैतिक-क्षेत्र में जो आन्दोलन हो रहे हैं उन्हीं का अनुसरण कर कविताओं की रचना की जाती है। जिधर समाज की आकृष्टि होती है उधर कवियों की भी दृष्टि जाती है। ऐसी रचनायें निरर्थक नहीं होतीं। इनसे तत्कालीन भावों का अच्छा प्रचार हो जाता है। वर्तमान हिन्दी-काव्यों की तीन विशेषतायें हैं। पहली विशेषता यह है कि अब कविताओं के लिये खड़ी बोली प्रयुक्त की जाती है। खड़ी बोली के पक्षपाती उसका पक्ष-समर्थन इसीलिये करते हैं कि उसके द्वारा गद्य और पद्य की भाषा कभी एक हो जायगी। ब्रज-भाषा की प्रान्तीयता को हटा कर वे हिन्दी

में राष्ट्रीयता का समावेश करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि कविता प्रासादिक होने के कारण जनता के लिये बोध-गम्य हो जायगी और तब उसके द्वारा लोगों में सुरुचि फैलेगी। हिन्दी-साहित्य में खड़ी बोली की कविताओं की वृद्धि हो रही है। उसका कारण ढूंढ़ने के लिये हमें वर्तमान समाज की ओर ध्यान देना चाहिये। भारतवर्ष के लिये यह युग परिवर्तन-काल है। अँगरेजी शिक्षा का प्रभाव भारत पर खूब पड़ा। अँगरेजी शिक्षा की बदौलत भिन्न भिन्न प्रान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ रहा है। वर्तमान युग की नवीनता ने समाज को अस्थिर कर दिया है। सभी लोग आत्मोन्नति के लिये कटि-बद्ध हो गये हैं। उन्हें अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तोष है। असन्तोष का यह भाव इतना तीव्र हो गया है कि लोगों को भूत-ककाल का बन्धन असह्य है। अतएव जब कोई यह कहता है कि तुम्हारे भावों की अभिव्यक्ति के लिये इतना ही स्थान है, इससे अधिक तुम नहीं जा सकते तब लोग उस निर्धारित सीमा को भंग कर डालते हैं। सभी देशों में यही भाव कभी न कभी जाग्रत होता ही है। समाज में जब किसी नवीन भावका विशेष प्राबल्य होता है तब यह उस भाव को व्यक्त करने के लिये नवीन पथ ढूँढ़ निकालता है। बौद्ध-काल में प्राचीन संस्कृत का स्थान प्राकृत ने ले लिया। इसका कारण यह नहीं हैं कि संस्कृत भाषा अनुपयुक्त है। बात यह है कि बौद्ध-धर्म के सार्वजनिक भावों के लिये सार्वजनिक भाषा की जरूरत थी। इसी लिए प्राकृत का प्राबल्य हुआ। बौद्ध-धर्म का पतन होने पर संस्कृत-साहित्य का पुनरुद्भव हुआ, परन्तु शीघ्र ही उसका प्रचार अत्यन्त परिमित हो गया। हिंदी में जब तक भक्ति-वाद का प्राबल्य था तब तक ब्रज-भाषा का ही प्रचार

रहा। पाश्चात्य शिक्षा ने समाज का आदर्श अवश्य बदल दिया परन्तु ब्रज-साहित्य का प्रभाव लुप्त नहीं होगया। गद्य में तो पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने से उसका रूप स्थिर होगया और आदर्श भी। परन्तु पद्य में ब्रज-भाषा और ब्रज-साहित्य के आदर्श का ही प्राधान्य बना रहा। यद्यपि कुछ समय से खड़ी बोली की ही कविताओं की प्रचार वृद्धि हो रही है तोभी ब्रज भाषा के अनुयायी और समर्थक कवियों का अभाव नहीं। खड़ी बोली की कविताओं में आधुनिक युग की विचार-धारा को प्रवृत्त किया है बाबू मैथिली शरण गुप्त और पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय ने। इन्हीं दो कवियों की रचनाओं में स्थायित्व गुण है भी। इन्होंने लोगों का ध्यान भाव-जगत् से हटा कर यथार्थ-जगत् की ओर आकृष्ट किया, कल्पित नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और कल्पित विलास की अपेक्षा दरिद्र किसान की भग्नकुटी की ओर लोग अधिक प्रवृत्ति हुए। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए खड़ी बोली ही उपयुक्त भाषा होगई है। परन्तु साहित्य के आदर्शों में अभी विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। पर कवियों में नवीनता के लिए व्यग्रता अवश्य देखी जारही है। कुछ समय से हिन्दी के नवयुग के कवियों ने प्रेमोन्माद का वर्णन करना आरम्भ किया है। अब प्रियतम की खोज की जाती है। पर उस प्रियतम का धाम अज्ञेय है और पथ भी अपरिचित है। अधिकांश नवयुवकों की कविताओं में हमें उसी प्रेम-लीला की छवि दिखाई पड़ती है जो रंग-भूमि के परदे के भीतर है। इनके अलङ्कार मिथ्या हैं, इनके रूप मिथ्या हैं, तो भी इनमें उन्माद है। रंग-भूमि की नायिकायों की तरह इनकी नायिकायें छायामय हैं। निशा-काल के अन्धकार में, कृत्रिम प्रकाश की उज्ज्वलता में, वे अपने रूप

का मोह-जाल बनाये रखती हैं। जो बातें वे कह रही हैं, जिन भावों को वे प्रकट कर रही हैं, वे उनके हृदय के भाव नहीं हैं। उनको उन्होंने अपने ऊपर आरोपित कर लिया है। ब्रज-साहित्य में जिस कल्पना का प्राधान्य था उसका आधार अनुभूति है। परन्तु इस नव-युग के प्रेम-साहित्य में अनुभूति नहीं है, भावों का आरोपण ही प्रबल होगया है। कोई भी कवि अपने नायक या नायिका का यथार्थ रूप नहीं देख सका है और न उसका अनुभव ही कर सका है। परन्तु इतना कोई भी कह सकता है कि उस रूप ने कवियों की हृत्तन्त्री के तार हिला दिये हैं। उससे कभी नीरव गान उत्थित हो रहा है और कभी प्रबल उच्छ्वास फूट रहा है। सब अनन्त और अज्ञेय की ओर दौड़े जा रहे हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि है उनमें एक कृत्रिम भावुकता-मात्र।

[२]

आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु जी ने अपने सम्बन्ध में लिखा है—

सेवक गुनी जन के चाकर चतुर के हैं
कविन के मीत चित हित गुन गानी के।
सीधन सौं सीधे महा बांके हम बांकेन सौं
हरीचन्द्र नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह काहू की न परवाह नेही
नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सरवस रसिक सुदास दास प्रेमिन के
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।

यह भाव उनकी रचनाओं में भी प्रत्यक्ष है। ब्रज-साहित्य में पहले जिस रूप की प्राप्ति के लिए व्यग्रता थी, वह भारतेन्दु जी की रचनाओं में विद्यमान है।

पिय प्यारे बिना यह माधुरी मूरति
औरन को अब देखिए का।
सुख छांड़ि के सङ्गम को तुम्हारे
इन लच्छन को अब लेखिए का।
हरिचन्द जू हीरन को व्यवहार कै
कांचन को लै परेखिए का।
जिन आंखिन में तुव रूप बस्यो
उन आंखिन सों अब देखिए का।

एक ही पद्य में उन्होंने नेत्र, हृदय और बुद्धि से ग्राह्य सौन्दर्य का समावेश बड़ी कुशलता से कर दिया है—

उमड़ि उमड़ि दृग रोवत अबीर भये
मुख द्युति पीरी परी बिरह महाभरी।
हरीचन्द प्रेममाती मनहुं गुनावी छकी
काम झर झाँवरी सी द्युति तनु की करी।
प्रेम कारीगर के अनेक रंग देखो यह
जोगिया सजाये बाल बिरिछ तरे खरी।
आँखिन में सांवरो हिये में बसे लाल वह
बार बार मुखते पुकारत हरी हरी।

उन्होंने प्रेम की विमुग्धावस्था का भी वर्णन बड़ी कुशलता से किया है—

हौं तो याही सोच मैं विचारत रही री काहे
दरपन हाथ ते न छिन बिछुरत है।
त्यौंही हरिचन्द जू वियोग औ संयोग दोऊ
एक से तिहारे कछु लखि न परत है।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात तैं तौ
परम पुनीत प्रेम पथ विचरत है।

तेरे नैन मूरति पियारे की बसति ताहि
आरसी में रैन दिन देखिबो करत है ॥
इन दुखियान को न सुख सपने हूं मिल्यो
योंही सदा व्याकुल विकल अकुलायंगी।
प्यारे हरिचन्दजू की बीती जानि औधि जोपै
जै हैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायंगी।
देख्यो एक बार हूं न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहैं तहीं पछतायंगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय
देखि लीजो आंखें ये खुली ही रहि जायंगी ॥

पहिले ही जाय मिले गुन में श्रवन फेर
रूप सुधा मधि कीन्हों नैन हूँ पयान है।
हंसनि नटनि चितवनि मुसुकान सुघ—
राई रसिकाई मिलि मति पय पान है।
मोहि मोहि मोहन मई री मन मेरो भयो
हरी चन्द भेद ना परत कछु जान है।
कान्ह भये प्रानमय प्रान भयो कान्हमय
हिय मैं न जान्यो परै कान्ह है कि प्रान है ॥

बोल्यो करै नूपुर श्रवन के निकट सदा
पद तल लाल मन मेरे विहर्यो करै।
बाजी करे बंशी धुनि पूरि रोम रोम मुख
मन मुसुकानि मन्द मनहिं हर्यो करै।
हरी चन्द चलनि मुरनि बतरानि चित
छाई रहै छबि जुग दृगन भर्यो करै।
प्रान हूं ते प्यारो रहै प्यारो तू सदाई तेरो
पीरो पट सदा जिय बीच फहर्यो करै ॥

जिय पै जु होइ अधिकार तो विचार कीजै
लोक लाज भलो बुरो भले निरधारिए।
नैन श्रौन कर पग सबै परवस भये
उतै चलि जात इन्है कैसे के सम्हारिए।
हरी चन्द भई सब भांति सों पराई हम
इन्है ज्ञान कहि कहो कैसे कै निवारिए।
मन मैं रहै जो ताहि दीजिए बिसारि मन
आपै बसे जामें वाहि कैसे कै बिसारिए॥

भूली सो भ्रमी सी चौंकी जकीसी थकी सी गोपी
दुखी सी रहति कछू नाहिं सुधि देह की।
मोहीसी लुभाई कछु मोदक से खाये सदा
बिसरी सी रहे नेक खबर न गेहकी।
रिस भरी रहै कबौं फूली न समाति अंग
हंसि हंसि कहै बात अधिक उमेह की।
पूछे ते खिसानी होय उत्तर न आवै तोहि
जानी हम जानी है निसानी या सनेह की।

भारतेन्दु जी ने देश की वर्तमान अवस्था पर भी रचनाएँ की हैं पर उन रचनाओं में उनकी कवित्व-कला नहीं देखी जाती। यही बात आधुनिक युग के अन्य कितने ही कवियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उसका कारण यह है कि उनके हृदय पर व्रज-साहित्य का ही प्रभाव पड़ा था। उनका हृदय देश के प्रेम से नहीं रंग गया था। वे केवल देश की महत्ता समझने लगे थे। बदरी नरायन चौधरी की भारत-बन्दना में वह कवित्व-रस नहीं है जो उनकी निम्नलिखित युक्ति में है—

सम्पत्ति सुजस का न अन्त है विचारि देखा
तिसके लिए क्यों सोक-सिन्धु अवगाहिए।
लोभ की ललक में अभिमानियों के तुच्छ
तेवरों को देख उन्हें संकित सराहिए।
दीन गुनी सज्जनों से निपट विनीत बने
प्रेम घन नित्य नाते नेह के निवाहिए।
राग रोष औरों से न हानि लाभ कछु उसी
नन्द के किसोर की कृपा की कोर चाहिए।

नाथूराम शङ्कर शर्मा जी ने खड़ी बोली में कवितायें लिख ख्याति अर्जन की है। समाज के सम्बन्ध में उन्होंने जितनी कवितायें लिखी हैं उनमें कठोर तिरस्कार है, ग्लानि है, आक्षेप है। उनकी रचना में सर्वत्र एक प्रकार की उद्दण्डता, निर्भीकता है। शङ्कर जी अपनी रचना में भाषा को खींच लाते हैं, उसके पीछे दौड़ते नहीं। वे अलङ्कारों का जमघट लगा देते हैं। जो परीक्षक होगा वही बतावेगा कि कौन पुराने रत्न हैं और कौन नए। शङ्कर जी को इसकी परवा नहीं—

ताकत ही तेज न रहैगो तेजधारिन में
मङ्गल मयङ्क मन्द पीले पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायेंगे तड़ागन में
डूब डूब शङ्कर सरोजु सड़ जायेंगे।
खायगौ कराल काल केहरी कुरंगन को
सारे खंजरीहन के पङ्ख झड़ जायेंगे।
तेरी अंखियान सों लड़ेंगे अब और कौन
केवल अड़ीले द्रग मेरे अड़ जायेंगे॥

कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है कि
श्याम घन मण्डल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अङ्क में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
शङ्कर कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहनी की मांग है कि
ढाल पर खांडा काम देव का दुधारा है॥
शङ्कर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अम्बर ते ऊंची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लों पल में पिघल कर
घूम घूम धरनी धुरीसी बढ़ जायगी।
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी॥

जगन्नाथ प्रसाद भानु ब्रज-साहित्य के अनुयायी हैं—

गावत गजानन समुचि एक आनन तें
जात चतुरानन हू बैठि वश लाज के।
मौन गहि रहे शंभु कहि पंच आनन तें
भाषत षड़ानन ना सामुहें समाज के।
कहौ पुनि कौन विधि गाइये गुणानुवाद
भानु लघु आनन तें देव सिरताज के।
शेष जब गावें सहसानन तें तौ हूं गुन
गाये ना सिरात ब्रजराज महराज के।

श्रीधर पाठक जी खड़ी बोली की कविताओं के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। परन्तु उनकी कितनी ही कवितायें ब्रज-भाषा में हैं। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनाओं में ब्रज-साहित्य का आदर्श गोचर नहीं होता। उनमें हम नवयुग की भावनाओं को स्पष्ट झलक देख सकते हैं। उनमें कल्पना की अपेक्षा सत्य है, कृत्रिमता के स्थान में स्वाभाविकता है, भाव-जगत् के स्थान में यथार्थ जगत् है। 'घन-विनय' इसका सब से अच्छा उदाहरण है। उनकी खड़ी बोली की रचनाओं में भाषा का सौष्ठव नहीं है और न अलङ्कार की छटा है। स्पष्ट भाषा में उन्होंने स्पष्ट बातें कही हैं। उन्होंने अपनी कविता-कामिनी का मुख किसी अवगुण्ठन मे नहीं ढका है। निम्नलिखित पद्य खड़ी बोली में है। उसके साथ घन-विनय की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पाठक जी ब्रज-भाषा के ही सत्कवि थे—

जहां मनुष्यों को मनुष्य-अधिकार प्राप्त नहिं।
जन जन सरल सनेह सुजन व्यवहार व्याप्त नहिं।
निर्धारित नर. नारि उचित उपचार आप्त नहिं।
छलिमल मूलक कलह कभी होवै समाप्त नहिं।
वह देश मनुष्यों का नहीं, प्रेतों का उपवेश है।
नित नूतन अघ उद्देश थल भूतल नरक निवेश है।

लाला भगवानदीन ने खड़ी बोली में काव्य लिखे हैं पर ब्रज-भाषा के माधुर्य ने उन्हें भी मुग्ध कर रक्खा था—

एहो घनश्याम नित सींचि सींजि कृपा वारि
कवित लता को सदा राखियो हरी हरी।
छाया करि आतप निवारियो कलेसन को
मंद धुनि करि उलहाइयो घरी घरी।

राधे रूप बिज्जु दरसाय हनि दुःख कीट
सफल सफूल पत्र राखियो हरी भरी।
दीन कवि चातक की विनै अनुसुनी करि
एहो घनश्याम फिर सुनिहौ खरी खरी।

जगन्नथदास रत्नाकर तो ब्रज-भाषा और ब्रज-साहित्य के ही उपासक थे—

बोधि बुधि विधि के कमंडल उठावत ही
धाक सुर धुनि की धँसी यौं घट घट मैं।
कहै रतनाकर सुरासुर ससंक सबै
बिवस बिलोकत लिखे से चित्रपट मैं।
लोक–पाप दौरन दसौ दिसि हहरि लागै
हरि लागे हेरन सुपात बर वट मैं।
खसन गिरीस लागे, त्रसन नदीस लागे
ईस लागे कसन फनीस कटि तट मैं।

रूपनारायण पाण्डेय की ब्रज-भाषा में उक्ति सुनिए—

शारद निशारद विशारद को पारद
विरंचि हरि नारद अधीन कहियत है।
पण्डित भुजा मैं बर वीना है प्रवीना जू कै
एक कर अभय वरादि गहियत है।
चहियत पद अवलंब अंब तेरे पाप
हरष कदम्ब ना विलम्ब सहियत है।
हरन हजार मुख सुख के करन
चारु चरन सकन मैं सदाही रहियत है।

हिन्दी में छायावाद के प्रसिद्ध कवि समझे जाने वाले

जय शङ्कर प्रसाद की ब्रज-भाषा में कहीं हुई यह उक्ति देखिए—

भूलि भूलि जात पद कमल तिहारो कहो
ऐसी नीच मूढ़ मति कीन्हीं है हमारी क्यों।
धाय के धंसत काम क्रोध सिंधु संगठ में
मनकी हमारे ऐसी गति निरधारी क्यों।
झूठे जग लोगन में दौरि के लगत नेह
सांचे सच्चिदानन्द में प्रेम ना सुधारी क्यों।
विकल विलोकत न हिय पीर मोचत हो
एहो दीनबन्धु दीन-बन्धुता बिसारी क्यों।

[३]

खड़ी बोली में कविता का जो आदर्श है वह ब्रज-भाषा के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। यह बात बतलाने के लिए ऊपर ब्रज-भाषा में आधुनिक कवियों की कुछ रचनायें दी गई हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि आधुनिक युग की भावनाओं को अयोध्या सिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित किया है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में खड़ी बोली की कविताओं ने एक स्थिर रूप प्राप्त कर लिया है। उनमें कोमलता है, मधुरता है, सरलता है और गंभीरता भी है। अपने इन्हीं गुणों के कारण उनकी रचनायें लोक-प्रिय भी हुईं। गुप्त जी में अभाव है सृजन-शक्ति का। उन्होंने खड़ी बोली की कविता के लिए उपयुक्त भाषा अवश्य बना दी, उन्हों ने खड़ी बोली में साहित्य के आदर्श भी निश्चित कर दिए, पर

उनमें उच्चकोटि की कल्पना-शक्ति नहीं है। यदि उनमें यह शक्ति होती तो आधुनिक युग के सर्व-श्रेष्ठ कवि वेही होते।

कवि स्वयं एक मनुष्य है। अन्य मनुष्यों की तरह वह भी अपने युग की सन्तान है। परन्तु अन्य लोगों से जो उसे पृथक करती है वह है उसकी आत्मानुभूति। वह अनुभूति उसकी कृति को एक विशेष रूप देती है। वही उसमें विलक्षणता लाती है। जब पहले पहल बोल-चाल की भाषा में कवितायें निकलने लगीं तब अपनी नवीनता के कारण वे थोड़े ही दिनों में लोकप्रिय होगईं। उनमें केवल भाषा की ही नवीनता नहीं थी, भावों की भी नवीनता थी। बोल-चाल की भाषा में कविता लिखने वाले कवियों ने उन्हीं विषयों का वर्णन किया जिनका समाज से अधिक सम्पर्क था। जो भाव देश के लोगों में फैल रहे थे उन्हीं भावों को उन्होंने कविता का रूप दे दिया। उनकी कृतियों में कल्पना कम है, यथार्थ चित्रण ही अधिक है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में उन्होंने कल्पना से काम नहीं लिया। ग्रीष्म की उष्ण पवन का उत्ताप देखकर उन्होंने विलासियों के विलास-भवन की कल्पना नहीं की। अधिकांश लोगों को जो कष्ट होता है उसी का चित्र उन्होंने अङ्कित किया। हिन्दी के पाठक ब्रज-भाषा की कल्पना-विभूति से परिचित थे। उनके लिए यह चित्र नया था। उसमें ब्रज-भाषा की मादकता नहीं थी, न वह विलास-विभ्रम था और न वह भाषा-लालित्य। उसमें वही बातें थीं जिन्हें हम प्रतिदिन देखते और सुनते हैं। अतएव उनमें रसिकों के मनोविनोद की सामग्री होने पर भी सर्व-साधारण की भावना उन्ही की स्वाभाविक भाषा में थी। पर उतने से ही लोगों को सन्तोष नहीं हो सकता। बोल-चाल

की भाषा के कवियों ने उन्हीं विषयों पर रचना की हैं जिनका विशेष सम्बन्ध जनता के साथ था। परंतु क्या वे जनता के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं? क्या उनकी कृतियों में देश के भावों का उच्चतम विकास हुआ है? जब कवियों की रचनाओं में समस्त देश की आत्मा फूट पड़ती है, जब उनके स्वर में देश की उच्चतम आकांक्षा की ध्वनि निकलती है, जब उनकी कृति में देश का आह्वान रहता है, तभी वे सच्चे कवि कहला सकते हैं। जिनकी अनुभूति व्यापक रहती है वही देश को अपना सकते हैं। शक्ति के अभाव से यथार्थ अनुभूति न होने के कारण ऐसे कवियों के भाव विकृत हो जाते हैं। देशाभिमान दम्भ हो जाता है। वे अपने भावों की स्थूलता को शब्दों के जाल में छिपाने की चेष्टा करते हैं। अनुभूति का स्थान आवेश ले लेता है। भूषण की कृतियों में यही दोष है। इसी से वे राष्ट्र के कवि नहीं कहे जासकते। हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं में भी उनका आत्म-शैथिल्य प्रकट होजाता है। उन्होंने सत्य का अनुभव ही नहीं किया है। आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें पूर्व का पश्चिम से सम्मिलन हुआ है। पाश्चात्य सभ्यता के संघर्ष से भारतीय आदर्श पर बड़ा आघात पहुँचा है। भारतवर्ष के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब जब उस पर आघात हुए तब तब उसने उससे लाभ ही उठाया है। जिस प्रकार चन्दन पर आघात करने से उसकी सुगन्धित उद्गत होती है, उसी प्रकार भारतवर्ष पर आघात होने पर उसने अपनी सत्य-साधना को एक नये ही रूप में प्रकट किया है। सत्य का आघात केवल सत्य ही ग्रहण कर सकता है। सत्य के उज्जवल प्रकाश में मिथ्या का अंश नष्ट हो जाता है। आधुनिक युग के कवियों का

काम नवीन ज्ञानालोक में भारतीय सत्य के चिरंतन रूप को प्रकट करना है। ऐसे ही कवि राष्ट्र के कवि कहे जायंगे।

खड़ी बोली की कविताओं में सूक्तियों का अभाव नहीं है। किसी में देश-भक्ति का उद्गार है, किसी में भक्ति की अभिलाषा है, किसी में कल्पना है, किसी में चातुर्य है। हिन्दी-साहित्य के तीर्थ-सलिल में उनका समावेश अच्छी तरह हो सकता है। नीचे भिन्न भिन्न कवियों की ऐसी ही सूक्तियां दी जाती हैं:—

प्रभुप्रताप

चाँद औ सूरज गगन में घूमते हैं रात दिन।
तेज औ तम से दिशा होती है उजली औ मलिन॥
वायु बहती है, घटा उठती है, जलती है अगिन।
फूल होता है अचानक वज्र से बढ़कर कठिन॥
जिस अलौकिक देव के अनुकूल केलि-कलाप बल।
वह करे, सब काल में संसार का मङ्गल सकल॥१॥
क्या नहीं है हाथ में वह नाथ क्या करता नहीं।
चाहता जो है उसे करते कभी डरता नहीं॥
सुख मिला उसको न, दुख जिसका कि वह हरता नहीं।
कौन उसको भर सके? जिसको कि वह भरता नहीं॥
है अछूती नीति, करतूतें निराली हैं सभी।
भेद का उसके पता कोई नहीं पाता कभी॥२॥
है बहुत सुन्दर बसे कितने नगर देता उजाड़।
है मिलाता धूल में कितने बड़े-ऊँचे-पहाड़॥
एक झटके में करोड़ों पेड़ लेता है उखाड़।
एक पल में है सकल ब्रह्माण्ड को सकता बिगाड़॥

काँपते सब देवते आतंक से हैं रात दिन ।
मोम करता है उसे, है जोकि पत्थर से कठिन ॥३॥

देखते हैं राज पाकर हम जिसे करते विहार ।
माँगता फिरता रहा कल भीख वह कर को पसार ॥
एक टुकड़े के लिये जो घूमता था द्वार द्वार ।
आज धरती है कँपाती उसके धौंसे की धुकार ॥
नित्य ऐसी सैकड़ों लीला किया करता है वह ।
रंक करता है, कभी सिर पर मुकुट धरता है वह ॥४॥

जिस अँधेरे को नहीं करता कभी सूरज शमन ।
उस अँधेरे को सदा करता है वह पल में दमन ॥
भूल करके भी किसी का है जहाँ जाता न मन ।
वह बिना आयास के करता वहाँ भी है गमन ॥
देवतों के ध्यान में भी जो नहीं आता कभी ।
उस खेलाड़ी के लिये हस्तामलक है वह सभी ॥५॥

जगमगाती व्योम-मंडल की विविध तारावली ।
फूल, फल, सब रंग के खिलती हुई सुन्दर कली ॥
सब तरह के पेड़ उनकी पत्तियाँ साँचे ढली ।
रँग विरंगे पंख की चिड़ियाँ प्रकृति-हाथों पली ॥
आँखवाले के हृदय में हैं बिठा देती यही ।
इन अनूठे विश्व-चित्रों का चितेरा है वही ॥६॥

देख जो पाया अरोराबोरिएलिस का समा ।
रंग जिसकी आँख में है मेघमाला का जमा ॥
जो समझ ले व्यूह तारों का अधर में है थमा ।
जो लखे सब कुछ लिये है घूमती सारी क्षमा ॥
कुछ लगाता है वही करतूत का उसकी पता ।
भाव कुछ उसके गुणों का है वही सकता बता ॥७॥

है कहीं लाखों करोड़ों कोस में जल ही भरा।
है करोड़ों मील में फैली कहीं सूखी धरा॥
हैं कहीं पर्वत जमाये दूर तक अपना परा।
देख पड़ता है कहीं मैदान कोसों तक हरा॥
बह रहीं नदियाँ कहीं, हैं गिर रहे झरने कहीं।
किस जगह उसकी हमें महिमा दिखाती है नहीं॥८॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय,

जन्म भूमि

[१]

मेरा देश देश का मैं, देश मेरा जीव प्रान,
मेरा सन्मान मेरे देश की बड़ाई मैं।
जियूँगा स्वदेश हित, मरूँगा स्वदेश काज,
देश के लिये न कभी करूँगा बुराई मैं॥
भीषण भयंकर प्रसंग में भी भूल के भी,
भूलूंगा न देश हित राम की दुहाई मैं।
जब लौं रहेगी साँस सर्वस भी लुटादूंगा,
ईश को भी झुका लूंगा देश की भलाई मैं॥

[२]

चर्चा जहाँ देश की हो मेरी जीभ वहीं खुले,
और वहीं खुले कहीं खुदा की खुदाई में।
मेरे कान गान सुनें साँचे देशभक्तन के,
और गान आवे कभी मेरे न सुनाई में॥
मेरे अंग रंग चढ़े एक देशप्रेम को ही,
और रंग भंग होके बूड़ जा तराई में॥
मेरो धन मेरो तन मेरो मन मेरो जीव,
मेरो सब लगे प्रभो देश की भलाई में॥

गिरिधर शर्मा

मेँहँदी

तुमने पैरों में लगाई मेंहँदी । मेरी आँखों में समाई मेंहँदी ॥
खूनी होते हैं जगत के सब्ज़ रंग । दे रही है यह दोहाई मेंहँदी ॥
कुल से छूटी कूट कर पीसी गई । तब तेरे पद छूने पाई मेंहँदी ॥
कष्ट से मिलता है जग में इष्ट पद । बात यह सच्ची बताई मेंहँदी ॥
खैर कहता है कलेजा देके निज । मैंने है राती बनाई मेंहँदी ॥
है कथन मेरा मेरे अनुराग से । लेगई है कुछ ललाई मेंहँदी ॥
माई के लालों से यह लाली मिली । इस से ढाँपे है ललाई मेंहँदी ॥
वस्तु मंगनी की सुरक्षित ही रहै । दिल में रखती हैं ललाई मेंहँदी ॥
नील नभ में ज्यों छिपी ऊषा रहै । त्यों छिपाती है ललाई मेंहँदी ॥
प्रात संध्या से तुम्हारे पैर पा । व्यक्त करती है ललाई मेंहँदी ॥
रागमय जन अंग हैं शृङ्गार के । यह प्रगट देती दोहाई मेंहदी ॥
दिल में रखना चाहिये अनुराग को । सीख देती है सोहाई मेंहदी ॥
मेरी प्यारी के युगल चरणों के साथ । रखती है गाढ़ी सगाई मेंहँदी ॥
पैर पड़ पड़ कर पकड़ लेती है हाथ । छल में बामन से सवाई मेंहँदी ॥

भगवानदीन

भक्त की अभिलाषा

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ,
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ ।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूंद समान हूँ,
तू है मनोहर गीत, तो मैं एक उसकी तान हूँ ॥१॥
तू है सुखद ऋतुराज तो मैं एक छोटा फूल हूँ,
तू है अगर दक्षिण पवन तो मैं कुसुम की धूल हूँ ।
तू है सरोवर अमल तो मैं एक उसका मीन हूँ,
तू है पिता तो पुत्र मैं तव अङ्क में आसीन हूँ ॥२॥

तू अगर सर्वाधार है तो एक मैं आधेय हूँ,
आश्रय मुझे है एक तेरा, श्रेय या आश्रेय हूँ।
तू है अगर सर्वेश तो मैं एक तेरा दास हूँ,
तुझको नहीं मैं भूलता हूँ, दूर हूँ या पास हूँ ॥३॥
तू है पतितपावन प्रकट तो मैं पतित मशहूर हूँ,
छल से तुझे यदि है घृणा, तो मैं कपट से दूर हूँ।
है भक्ति की यदि भूख तुझको, तो मुझे तव भक्ति है,
अति प्रेम है तेरे पदों में, प्रेम है आसक्ति है ॥४॥
तू है दया का सिन्धु तो मैं भी, दया का पात्र हूँ,
करुणेश तू है, चाहता मैं नाथ करुणा पात्र हूँ।
तू दीन बन्धु प्रसिद्ध है, मैं दीन से भी दीन हूँ,
तू नाथ ! नाथ अनाथ का, असहाय मैं प्रभु-हीन हूँ ॥५॥
तव चरण अशरण-शरण हैं, मुझको शरण की चाह है,
तू शीतकर है दग्ध को मेरे हृदय में दाह है।
तू है शरद राकाशशी, मम चित्त चारु चकोर है,
तव ओर तजकर देखता वह, और की कब ओर है ॥६॥
हृदयेश अब तेरे लिए, है हृदय व्याकुल हो रहा,
आ आ इधर आ शीघ्र आ, यह शोर यह गुल हो रहा।
यह चित्त चातक है तृषित, कर शान्त करुणा वारि से,
घनश्याम तेरी रट लगी आठो पहर है अब इसे ॥७॥
तू जानता मन की दशा, रखता न तुझसे बीच हूँ,
जो कुछ कि हूँ तेरा किया हूँ उच्च हूँ या नीच हूँ।
अपना मुझे अपना समझ तपना न अब मुझको पड़े,
तजकर तुझे यह दास जाकर द्वार अब किसके अड़े ॥८॥
तू है दिवाकर तो कमल मैं, जलद तू मैं मोर हूँ,
सब भावनायें छोड़कर अब कर रहा यह शोर हूँ।

मुझमें समा जा इस तरह तन प्राण का जो तौर है,
जिसमें न फिर कोई कहे मैं और हूँ तू और है ॥९॥

—सनेही

वीर-वचनावली

निज बल से बलि के बन्धन को तोड़ न सका पैठि पाताल।
शशि-कलंक मैंने नहिं मेटा, मेरे हाथों मरा न काल॥
शेष-शीस से धरा छीन कर, ले न सका सिर उसका धार।
शत्रु-शमन कर सका न अपना, लाख बार मुझको धिक्कार॥१॥
खाकर जिसे उगल देते हैं फिर उसको ही खाते श्वान।
छोड़ दिया है जिसे उसे फिर, छूते नहीं कभी मतिमान॥
प्राणों ही के साथ सर्वदा प्रण भी उनका जाता है।
शीतल कभी न होता पावक, बुझ जरूर वह जाता है॥२॥
खाकर लात शान्त जो रहते साधु नहीं वे पूरे मूढ़।
मारो लात धूलि पर देखो, हो जावेगी सिर-आरूढ़॥
रिपु से बदला लिये बिना ही कायर नर रह जाते हैं।
तेजस्वी जन उसके सिर पर पद रख यश फैलाते हैं॥३॥

—रामचरित उपाध्याय

चमेली

सुन्दरता की रूप राशि तुम, दयालुता की खान चमेली।
तुमसी कन्यायें भारत को, कब देगा भगवान चमेली॥१॥
चहक रहे खगवृन्द वनों में, अब न रही है रात चमेली।
अमल कमल कुसुमित होते हैं, देखो हुआ प्रभात चमेली॥२॥
प्रेममग्न प्रेमीजन देखो, करें प्रभाती गान चमेली।
जिसने तुमसा वृक्ष लगाया, कर माली का ध्यान चमेली॥३॥

जग यात्रा में सहने होंगे, कभी कभी दुख भार चमेली।
काट छाँट से मत घबराना, यह भी उसका प्यार चमेली ॥४॥
छिन्न भिन्न डालों का होना, अपने ही हित जान चमेली।
हरे हरे पत्ते निकलैंगे, सुमनों के सामान चमेली ॥५॥
भ्रमर भीर गुञ्जार करेगी, तुझसे हास विलास चमेली।
दिगदिगन्त सुरभित होवेगा, पाकर सुखद सुबास चमेली ॥६॥
अटल नियम को भूल न जाना, जग में सबका नाश चमेली।
अस्तु अंशुमाली भी होता, घूम अखिल आकाश चमेली ॥७॥

—मन्नन द्विवेदी

मातृभूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की;
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥ १ ॥
मृतक समान अशक्त विवश आँखों को मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे।
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अङ्क में त्राण किया था।
जो जननी का भी सर्वदा थी पालन करती रही,
तू क्यों न हमारी पूज्य हो मातृभूमि, मातामही! ॥ २ ॥
जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं।
परमहंस—सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण "धूल भरे हीरे" कहलाये।

हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृभूमि! तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोद में ॥ ३ ॥
पालन-पोषण और जन्म का कारण तूही,
वक्ष-स्थल पर हमें कर रही धारण तूही।
अभ्रंकष प्रासाद और ये महल हमारे,
बने हुए हैं अहो! तुझी से तुझ पर सारे।
हे मातृभूमि! जब हम कभी शरण न तेरी पायँगे,
बस तभी प्रलय के पेट में सभी लीन हो जायँगे ॥ ४ ॥
दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी।
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी।
पुष्पों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी।
मृदु मलय-वायु मानों तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही,
हे मातृभूमि! किसका न तू सात्विक भाव बढ़ा रही ॥ ५ ॥
क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है।
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुखहर्त्री है,
भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है।
हे शरणदायिनी देवि! तू करती सब का त्राण है,
हे मातृभूमि! सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है ॥ ६ ॥
आते ही उपकार याद है माता! तेरा,
हो जाता मन मुग्ध भक्तिभावों का प्रेरा।
तू पूजा के योग्य कीर्ति तेरी हम गावें,
मन तो होता तुझे उठाकर शीश चढ़ावें।
वह शक्ति कहाँ, हा! क्या करें, क्यों हमको लज्जा न हो?
हम मातृभूमि! केवल तुझे शीश झुका सकते अहो ॥ ७ ॥

मैथिलीशरण गुप्त

जीवन-मुक्त-पञ्चक

पूछते हो क्या मेरा नाम ।

जड़ चेतन सब दिखा रहे हैं, मेरा रूप ललाम ।
जल, थल, अनल, अनिल गगन, सब में हूँ मैं व्याप्त ॥

विश्व बीज ओङ्कार तक, मुझ में हुआ समाप्त ।
आत्म-ज्ञान की नाव में, बैठा हूँ सानन्द,
भव-सागर में घूमता, फिरता हूँ स्वच्छन्द ।

भव-जल में मैं कमल हूँ, भव-घन में आदित्य;
भव-घट-मठ से व्योम हूँ, अद्भुत, अक्षर, नित्य ।

नर-तनु है धारण किया, करने को खिलवाड़;
कोई देख सका नहीं, तिल की ओट. पहाड़ ।

अहङ्कार का हार, डाल कल्पना के गले;
माया-मय संसार, बन बैठा मैं आपही ।

बदरीनाथ भट्ट

नया फूल

खिला है नया फूल उपवन में ।

मुदित हो रहे हैं सब तरुवर, बेलें हँसती मन में ॥ १ ॥

प्रात समीर लगी, सुख पाया, पहली दशा भुलाई,
जिधर निहारा उधर प्रेम की थाली परसी पाई ॥ २ ॥

रूप अनूठा लेकर आया, मृदु सुगन्धि फैलाई,
सब के हृदय-देश में अपनी प्रभुता-ध्वजा उड़ाई ॥ ३ ॥

जीत लिया है तूने सब को, ऐसी लहर चलाई,
रो कर, हँस कर, सभी तरह से अपनी बात बनाई ॥ ४ ॥

बदरीनाथ भट्ट

(१)

वह छवि

करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृङ्ग,
उर कलियों में सदा ब्रज-नर-नारी की।
कण-कण में हैं यहाँ व्याप्त दृग-सुखकारी,
मञ्जु मनोहारी मूर्ति मञ्जुल मुरारी की।
जिसको नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देखकर गोवर्धन—धारी की?
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्म-भूमि यही,
जन-मन-हारी वृन्दा-विपिन-विहारी की।

(२)

अङ्कित ब्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता-द्रुम वल्लियों में और फूल फूल में।
भूमि ही यहाँ की सब काल बतला सी रही,
ग्वाल-बाल सङ्ग वह लोटे इस धूल में।
कलकल-रूप में है वंशी-रव गूँज रहा,
जाके सुनो कलित कलिन्दजा के कूल में।
ग्राम ग्राम धाम धाम में हैं घनश्याम यहाँ,
किन्तु वे छिपे हैं मंजु मानस-दुकूल में।

गोपालशरणसिंह